ॐ श्री परमात्मने नमः

द्वादश अध्याय

द्वादश अध्याय का नाम भक्तियोग है। इसमें अनेक प्रकार के साधनों सहित भक्ति का वर्णन करके भगवद्भक्तों के लक्षण बताए गए हैं। इसी अध्याय में तीन श्लोकों में ज्ञान योग का भी वर्णन है जिससे हम ज्ञान और भक्ति मार्ग की तुलना भी कर सकें। हम उनके बीच अन्तर भी समझ सकें और एकत्व भी। एकत्व लक्ष्य में है और अन्तर केवल साधना पद्धति में। भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले पुरुषों के लिए भिन्न-भिन्न साधना पद्धतियां हिन्दू धर्म की विशेषता है। अध्यात्म ज्ञान या प्रभु की प्राप्ति सेना की कवायद नहीं। सबको एक तरीके से चलाया नहीं जा सकता। सभी भिन्न-भिन्न प्रकार से साधना करें, किन्तु अंतिम गति सभी की एक होगी। ज्ञान और भक्ति तथा कर्म के अन्तर्गत आने वाली विभिन्न साधनाओं का विवेचन गीता में कितने सुनियोजित ढंग से किया गया है यह समझने के लिए हम पुनः इसका आरम्भ से अवलोकन करें।

प्रथम अध्याय में अर्जुन के विवादग्रस्त होने पर द्वितीय अध्याय से जब भगवान श्रीकृष्ण ने उपदेश आरम्भ किया तो सर्व प्रथम तत्व ज्ञान का ही उपदेश दिया। अर्जुन को बताया कि जीव का सत्य देह नहीं वरन् आत्मा है। आत्मा अविनाशी तत्व है। यह अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यय, सर्वव्यापी और शरीर तथा मन के विकारों से निर्लिप्त है। यह निर्गुण निराकार ब्रह्मा का निरूपण हुआ।

ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान देने के बाद भगवान ने तृतीय, चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अध्याय में निष्काम कर्म, ध्यान, विवेक-विचार आदि अनेक साधनाओं की चर्चा की जिसके द्वारा जीव और ब्रह्म की एक रूपता का अनुभव किया जा सकता है। साधक अपने क्षुद्र जीव भाव को त्याग कर ब्रह्म भाव में प्रतिष्ठित हो सकता है।

केवल विचार के द्वारा भी ब्रह्म ज्ञान संभव है। विचार द्वारा यह जाना

जा सकता है कि एक ही तत्व सभी वस्तुओं और प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है। जगत ब्रह्म की रचना मात्र नहीं, ब्रह्म ही है। जगत भी ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म हूं इस भाव को प्राप्त कर लेना ब्राह्मी स्थिति है पर केवल चिन्तन-विचार द्वारा तो इस पद को आदि शंकराचार्य जैसे बिरले ही लोग प्राप्त कर सकते हैं। रमण महर्षि ने कोई विशेष साधना नहीं की थी। कोऽहं, अर्थात् मैं कौन हूं, मैं कौन हूं का विचार करते-करते वे ही ब्रह्म पद पर प्रतिष्ठित हो गए थे।

साधारणतः निर्गुण निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के लिए भी मनुष्य को कुछ शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक साधनाएं करनी पड़ती है। यह निर्गुण की उपासना है जिसका वर्णन भगवान तीसरे अध्याय से छठे अध्याय तक करते हैं। तब भगवान की भाषा कुछ इस प्रकारकी है- 'ब्रह्म का चिन्तन करो', ब्रह्म में अपने को स्थित करने का प्रयत्न करो, ऐसा करने से तुम ब्रह्म को प्राप्त कर लोगे' इत्यादि।

किन्तु सातवें अध्याय से उनकी भाषा बदल जाती है। ब्रह्म के स्थान पर 'मैं' शब्द का व्यवहार करने लगते हैं। 'मेरा चिन्तन करो', 'मुझमें मन और बुद्धि लगाओ', 'ऐसा करने से तुम मुझे प्राप्त कर लोगे', इत्यादि वाक्य वे बार-बार कहते हैं।

'मैं' यानी मानव तन धारी श्री कृष्ण। इनका आकार भी है और ये विभिन्न गुणों से युक्त भी है। सगुण साकार श्री कृष्ण कहने लगे हैं- 'मेरा चिन्तन करो, मुझमें ही आसक्ति रखो, मैं ही सबमें हूं।' इसके लिए वे सातवें, आठवें, नवें अध्याय में विभिन्न साधनाएं बताते हैं। यह सगुण साकार की उपासना है।

फिर दसवें में शब्दों द्वारा और ग्यारहवें अध्याय में प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा श्री कृष्ण बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं कि वे ही ब्रह्म हैं। दर्शन के बाद शंका का आधार रह ही नहीं सकता।

एक ही ब्रह्म निर्गुण निराकार भी और सगुण साकार भी! यह बात विलक्षण जान पड़ती है लेकिन अर्जुन जैसे बुद्धिवादी योद्धा को भी विश्वास करना ही पड़ा। दो बिल्कुल विपरीत जान पड़ने वाली धारणा! बिल्कुल विपरीत जान पड़ने वाली उपासना पद्धतियां! और दोनों अन्ततः एक। स्वाभाविक ही

उसें मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई- 'दोनों प्रकार के उपासकों में श्रेष्ठ कौन है?' जो धीर, और कर्मठ होते हैं वे श्रेष्ठ की खोज करते हैं सरल की नहीं।

ग्यारहवें अध्याय के अन्त में जब भगवान ने कहा कि जो मेरे परायण होकर मेरी भक्ति करता है वह मेरे इस अनन्त स्वरूप को प्राप्त करता है। स्वाभाविक ही अर्जुन अत्यन्त उत्साहित हो उठा क्योंकि उसने तो विश्व रूप देखा भर था। भगवान ने तो ज्ञातुं, द्रष्टुं के बाद प्रवेष्टुं की बात कह दी। इस अंतिम चरण तक तो वह पहुंच नहीं पाया था। विराट रूप में 'प्रवेष्टुं' की बात भगवान ने बताई तो अर्जुन को पिछले पाठ भी याद आ गए। उसने एक प्रश्न किया जिससे द्वादश अध्याय का शुभारम्भ होता है।

इस अध्याय में उठाए गए प्रश्न आज भी समीचीन है। परमात्मा की उपासना किसी आकृति, मूर्ति आदि के माध्यम से की जानी चाहिए कि नहीं इस पर अभी भी भिन्न-भिन्न मत हैं। क्या लहर का ज्ञान हमें सागर की सम्पूर्णता का भान करा सकता है? लहर का ध्यान सागर के चिन्तन में बाधक होगा या सहायक? ये प्रश्न आज भी लोगों को उद्वेलित करते हैं। आइए, श्री हरि के स्मरण के साथ हम द्वादश अध्याय में प्रवेश करें।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।।१।।

जो भक्त सतत् युक्त होकर आपकी उपासना करते हैं और जो अक्षर अव्यक्त की उपासना करते हैं उन (उपासकों) में उत्तम कौन है?

परम लक्ष्य की दृष्टि से एक होते हुए भी निर्गुण निराकार की उपासना और सगुण साकार की भक्ति बिल्कुल विपरीत ही जान पड़ती है। निर्गुण निराकार में स्थित होने का अर्थ है समस्त गुणों और आकारों का त्याग कर देना। हम जिन वस्तुओं के बीच उठ बैठ रहे हैं उनके गुण और आकार है अतः उनका त्याग करना होगा। हमारे कर्म भी सात्विक राजसिक तामसिक गुणों से आविष्ट होते हैं अतः उनका भी पूर्ण रूप से त्याग अभीष्ट है। विचारों

के गुण भी होते हैं। इसलिए विचार द्वारा भी हम निर्गुण निराकार से तादात्म्य नहीं कर सकते। इसलिए निर्गुण की उपासना कहती है- 'कुछ मत रखो अपने भीतर, शून्य हो जाओ।' इसी लिए बुद्ध जैसा निर्गुण उपासक वस्तुओं का त्याग करता है जिससे उसके विचार आकार लेना बंद कर देते हैं। सभी वस्तुओं और विषयों के विचार हटा देने के बाद भी 'मैं हूं' या 'मैं ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ध्यान कर रहा हूं' या 'मैं ब्रह्म हूं' यह विचार भी रह ही जाता है। जब तक यह सूक्ष्म विचार भी है तब तक ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। निराकार की उपासना का अर्थ पूरी तरह निर्विचार होना है। किन्तु साधक प्रयत्न द्वारा इसके पहले वाली स्थिति तक ही पहुंच सकता है। इसके बाद जो होता है वह कोई घटना नहीं। वह अनिर्वचनीय है। वह अपने आप होता है। इस प्रकार निर्गुण निराकार की उपासना शून्य में छलांग लगाने जैसी है जो कहती है- 'खाली हो जाओ तुम, बिल्कुल, पूरी तरह। कुछ भी न रहे। तुम्हारा देह भान, तुम्हारा जीवभाव, तुम्हारा अहं, तुम्हारी अस्मिता सब कुछ पूर्णतः समाप्त हो जाए।'

दूसरी ओर भक्ति है जो कहती है- 'भर जाओ तुम, बिल्कुल, पूरी तरह, तुम्हारा हृदय अपने प्रियतम प्रभु के विचारों से पूरी तरह भरा रहे। उनके विचार के अलावा और कुछ भी न रहे, वे ही तुम्हारी धड़कनों में बसे हों, वे ही तुम्हारे श्वासों के साथ स्पन्दित हों। तुम भर उठो उनके प्रेम से। जरा भी जगह न बचे तुम्हारे अपने लिए अपने ही मन में। जब पूरी तरह तुम्हारा 'मैं' हट जाएगा, जब पूरी तरह तुम्हारा मन भर जाएगा तब तुम मिट जाओगे, अनिवर्चनीय रह जाएगा।

एक उपासक अपने को खाली करता है, दूसरा अपने को भरता है। लेकिन दोनों ही संसार का चिन्तन त्याग देते हैं। दोनों का ही अहंकार शेष हो जाता है। उपासना का अंतिम बिन्दु- 'सूक्ष्मतम अहंकार का भी अन्त' दोनों में एक है किन्तु राह कितनी अलग! जैसे वृत्त के बाहरी घेरे के दो भिन्न बिन्दुओं से चल कर हम एक ही केन्द्र में पहुंच जाएं।

अर्जुन जानना चाहता है कि दोनों उपासकों में कौन श्रेष्ठ है- अपने को खाली करने वाला या अपने को भरने वाला।

श्री भगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्युक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।२।।

मेरे में मन को लगा कर नित्य निरन्तर युक्त रह कर श्रद्धा के साथ जो मेरी उपासना करता है वह मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ योगी है।

मन लगाना ही सगुण साकार की भक्ति है। ज्ञान में मन नहीं बुद्धि लगाई जाती है। भगवान कहते हैं कि जब किसी का मन मुझमें लग जाता है, ऐसा लग जाता है कि उसकी वृत्तियां दूसरी ओर जाती ही नहीं, उसकी श्रद्धा का केन्द्र मैं ही होता हूं, वह मुझे ही सर्वश्रेष्ठ मानता है, मुझे ही परम गति मानता है, वह मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ है।

लोगों की धारणा होती है कि भक्ति सबसे सरल है। इसमें विशेष कुछ करना नहीं पड़ता। साधारणतः जो बहुत पूजा पाठ करता है, मंदिर जाता है, मुंह से राम-राम कहता रहता है, खान पान, छुआ-छूत आदि में बहुत सावधानी बरतता है उसे हम कहते हैं कि बहुत बड़ा भगत है। पर यहां ध्यान देने की बात है कि भगवान किसको बहुत बड़ा भक्त बता रहे हैं। उपरोक्त बातों में से किसी बात को भगवान ने कोई महत्व नहीं दिया है। गीता में हर जगह भावनाओं को ही महत्व दिया गया है क्रियाओं को नहीं। यहां भगवान ने सर्वश्रेष्ठ भक्त के तीन लक्षण बताए हैं।

१.मय्यावेश्य मनः- साधक का मन मुझमें लगा हो। भगवान तन की नहीं मन की मांग करते हैं। उन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं कि हम अपने तन को गंगाजी में डुबकी खिला कर सुबह-सुबह उनकें मंदिर में हाजिरी देते हैं या नहीं। वे कहते हैं- 'तन को भले ही तुम संसार को लगाए रखो, मन दो मुझे। मैं तो तुम्हारे प्रेम का भूखा हूं।' संसार में किसी को हमारे मन से कोई मतलब नहीं होता, हमारी भावनाओं की परवाह नहीं होती। उन्हें हमसे मिलने वाला लाभ चाहिए बस। हमारी ही मूर्खता है जो बिना मतलब मन को संसार के साथ जोड़ते हैं। इससे संसार की तरफ से भी दुखी होते हैं- 'मुझे कोई ठीक से समझता नहीं, मेरी भावनाओं की कद्र नहीं करता।' दूसरी तरफ साधना की भी मन में रह जाती है- 'संसार के कामों से फुर्सत ही नहीं मिलती,

कैसे करें भजन?' सीधा उपाय तो है। तन संसार में रखें, मन मनमोहन में। संसार भी खुश, भगवान भी खुश। दोनों खुश तो हम स्वयं भी खुश। भोजन बनाते, आफिस जाते, सोते, उठते, बैठते आपके मन में पत्नी, बच्चे, बॉस या सास होती है कि मुरली मनोहर यह आपका नितान्त 'पर्सनल मैटर' है। इसमें कोई दखलंदाजी नहीं कर सकता। हमारे मन के आंगन में तो वही प्रवेश पा सकता है जिसे हम चाहें। उसमें कोई न घुस सकता है न आपत्ति कर सकता है। मन पर प्रभु का राज ही रहे यही प्रयत्न करना है।

नित्ययुक्तः- निरन्तर योग हो। भगवान घड़ी दो घड़ी या चार पांच घंटे में भी संतुष्ट होने वाले नहीं हैं। उन्हें तो नित्य योग चाहिए। हमारी श्वास-श्वास में वे ही बसे हों। हर क्षण हमारी धड़कनों में वे ही धड़कते हो तब होगा नित्ययोग। नित्ययोग की बात कुछ असंभव सी जान पड़ती है न। नर तन धारण किया है तो कर्त्तव्य, कर्म, लोक व्यवहार आदि तो करना ही पड़ेगा। यह तो बंद कमरे में तानपूरा लेकर बैठने वाली बात हो गई। उसमें भी नित्य कर्म और भोजन आदि के लिए तो उठना ही होगा।

भगवान से जुड़ने का अर्थ संसार से नाता तोड़ना नहीं। हमारे बच्चे कहीं दूर गए हों और हम उनकी किताबें, उनके खिलौने आदि संवार कर रख रहे हों तो हम बच्चे से जुड़े होते हैं। अमुक खिलौना उसे बहुत प्यारा है, यह टूट गया तो वह दुखी होगा। हमारा भावनात्मक योग खिलौने के साथ नहीं बच्चे के साथ है। खिलौने को तो हम इसलिए सहेज रहे हैं क्योंकि वह हमारे प्यारे बच्चे का है। इसी प्रकार संसार को भी हम इसलिए सहेजें क्योंकि वह हमारे प्यारे कन्हैया द्वारा हमें सहेजने को दी गई वस्तु है। तब संसार में व्यवहार करते हुए भी जुड़े हम भगवान से रहेंगे। संसार को अपना मानेंगे तो जन्म मरण योग हो जाएगा। संसार को त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल मानेंगे तो ज्ञान योग हो जाएगा। संसार को ठाकुर जी का मानेंगे तो भक्ति योग हो जायेगा। संसार का हर कार्य करते समय यह भाव बना रहे कि सब कुछ भगवान का है, मैं भी भगवान का हूं। यह कार्यक्षेत्र उसी का बनाया हुआ है। मेरी कार्यशक्ति भी उसी की है। बस। नित्ययुक्त होने के लिए आसन जमाकर भजन पूजन और नाम जप की आवश्यकता नहीं।

श्रद्धाः- भक्ति के मार्ग में श्रद्धा बड़ी महत्वपूर्ण है। प्रेम का संबंध

तो केवल मन से है पर श्रद्धा का संबंध मन और बुद्धि दोनों से है। प्रेम और श्रद्धा साथ-साथ हो यह जरूरी नहीं। जैसे हमारे बचपन का कोई मित्र हो। अब तो उम्र बड़ी हो गई है पर बड़ा ही गैर जिम्मेदार है। हम उसे घर पर बुला कर उसे बड़े प्रेम से खिलाते पिलाते हैं। फिर वह चाहता है कि हमारे छोटे बच्चे को तीन घंटे घुमा लाए। हम बहाने बाजी करके मना कर देते हैं क्योंकि विश्वास नहीं होता कि बच्चे का ध्यान रख पायेगा। मन प्रेम कर लेता है पर बुद्धि कहती है- 'निकम्मा है यह।'

भगवान तो मन और बुद्धि दोनों मांगते हैं। मन अंधा होकर चलता है बुद्धि समझ बूझ कर। अंधभक्ति किसी काम की नहीं। अंधविश्वास किसी मंजिल की ओर नहीं ले जाती। विवेक से काम लें। विचार करें कि संसार से हमारा क्या नाता है हम क्यों यहां आए हैं हमें क्या करना चाहिए, हम क्या कर रहे हैं। जब रिश्ते नातों की व्यर्थता समझ में आ जाए तब भगवान से नाता जुड़ेगा तो वह नाता अटूट होगा। वर्ना हम तो बेटे पोतों के लिए ही जहां-तहां डोरे बांधते, मनौती मांगते रह जाएंगे जीवन भर।

संसार का स्वाद छोड़ेंगे तब उसके लिए मिटने का स्वाद आएगा और एक बार वह स्वाद आने भर की देर है। भगवान तो भक्त के हो चले। फिर भक्त भगवान को नहीं पकड़ता भगवान भक्त को पकड़ लेते हैं। फिर वह भगवान को श्रेष्ठ मानकर प्रेम नहीं करता भगवान ही उसे श्रेष्ठ मान कर उससे प्रेम करने लगते हैं। उसे युक्ततम कहते हैं। फिर उसके उद्धार की चिन्ता प्रभु को होती है, उसे कुछ नहीं करना पड़ता।

भक्त को उत्तम बनाने का तात्पर्य यह नहीं कि निर्गुण का उपासक कम है। भगवान अगले दो श्लोकों में निर्गुण उपासक और उसकी अंतिम गति का वर्णन करते हुए उन्हें भी भक्त के समकक्ष ठहरा देते हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।३।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।४।।

जो अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, कूटस्थ, अचल और ध्रुव की उपासना करते हैं सभी इन्द्रिय समूह को वश में रखने वाले, समबुद्धि और सभी प्राणियों के हित में रत वे (उपासक) मुझे ही प्राप्त करते हैं।

तीसरे श्लोक में तो भगवान ने ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश दिया है। निर्गुण निराकार का साधक अपने साध्य को मनोहर रूप धारी भगवान के रूप में नहीं मानता। वह तो उसे अविनाशी, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचल, अविकारी मानता है जिसे न निर्देशित किया जा सकता है न इन्द्रियों से जाना जा सकता है, न चिन्तन द्वारा समझा जा सकता है। यह अनिर्वचनीय का वर्णन है। इस उपासना में अचिन्त्य का चिंतन होता है। चौथे श्लोक में भगवान् इस प्रकार की उपासना करने वालों के लक्षण बताते हैं। ये लक्षण वास्व में निर्देश हैं हमारे लिए। भक्त की भांति यहां भी तीन लक्षण बताए गए हैं।

संनियम्येन्द्रिय ग्रामं:- इन्द्रिय समूह को वश में रखना। हमारी शक्ति का क्षय इन्द्रियों द्वारा ही होता है। निर्गुण साधना का अर्थ ही है सभी आकृतियों, विचारों संकल्पों से अपने को हटाकर ब्रह्म भाव में स्थित करने का प्रयत्न करना। ज्ञानेन्द्रियों से विषय वस्तु का ज्ञान अन्दर प्रवेश करता है। मन में विचार संकल्प घुमड़ते हैं फिर मन कर्मेन्द्रियों द्वारा बाहर दौड़ता है। अत: सभी को संयमित करना तो उपासक का पहला कार्य है।

समबुद्धि:- उपासक का दूसरा लक्षण भगवान बताते हैं बुद्धि की समता और स्थिरता। इन्द्रियों को हम कितना ही संयमित कर लें, बाहरी दुनिया के संवेग प्रवेश तो करेंगे ही। कर्म भी हमारी कर्मेन्द्रियों को करना ही होगा। संयम से तो एक सीमा तक ही इनकी दौड़ बंद की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि संसार की सभी वस्तुएं और परिस्थितियां हर क्षण बदलती रहती है। इन परिवर्तनों के साथ बह जाने वाला कभी सफल नहीं हो सकता। अत: स्थिरता उसे अपने अन्दर पैदा करनी होगी। सुख-दुख, हानि लाभ, जय पराजय आदि सभी शारीरिक मानसिक बौद्धिक द्वंद्वों में अपने को सम रखना होगा। ऐसे व्यक्ति को गीता एक विशेष नाम देती है स्थितप्रज्ञ। स्थितप्रज्ञ के लक्षण भगवान ने दूसरे अध्याय में बहुत विस्तार से बताए हैं। यहां तो एक सूत्र दे दिया कि निर्गुण के साधक के लिए स्थितप्रज्ञ होना अनिवार्य है।

सर्वभूतहिते रताः- सभी प्राणियों के हित के कर्म वाला। गीता कहीं भी कर्मशीलता के त्याग की बात नहीं करती। जब हम सभी आकारों और विचारों के त्यागने वाले साधक के बारे में पढ़ रहे हैं तब भी भगवान स्पष्ट कर रहे हैं कि कर्म तो करना ही है। जंगल में या हिमालय में जा कर नहीं बैठना। हिमालय में तप करने वाले भी चौबीसों घंटे सालों साल ध्यान तो नहीं लगा सकते। ध्यानाभ्यास कुछ घंटों के लिए ही करते हैं। बाकी समय कुछ न कुछ तो करना ही होगा। अपने शरीर निर्वाह के लिए कुछ न कुछ उपाय करने ही होंगे चाहे वह भिक्षाटन ही क्यों न हो। श्री भगवान दूसरों से मांग कर साधना करने से श्रेष्ठ उसे समझते हैं जो दूसरों को कुछ देते हुए साधना करते हैं। उनके हृदय में अपनी कामना तो होती नहीं अतः वे जो कुछ भी करेंगे वह निश्चित रूप से दूसरों के हित के लिए ही होगा। उनके हृदय में सबके प्रति प्रेम का अजस्त्र स्रोत प्रवाहित होता रहता है। अनेकों संत ऐसे हैं जो अपने ज्ञान और करुणा के द्वारा दूसरों के दुख दूर करते हैं। उनके उपदेशों से लाखों लोगों का कल्याण होता है। पतित और दुराचारियों का हृदय परिवर्तन होता है और वे सदाचारी बन जाते हैं। कृतज्ञता और श्रद्धा प्रकट करने के लिए लोग उन्हें धन देते भी हैं तो वे उस धन का उपयोग धर्म के प्रचार या दीन दुखियों की सेवा के लिए करते हैं।

साधना होती है 'मैं' को हटाने के लिए। भक्त के लिए तो मैं के स्थान पर प्रभु आ जाते हैं 'मैं नही तू ही तू' का भाव हो जाता है। ज्ञानी के लिए ऐसा कुछ नहीं। अतः वह सब प्राणियों के हित के लिए कार्य करने में अपने 'मैं' को निःशेष करता है।

भगवान कहते हैं कि उपासक निर्गुण का हो या सगुण का, सब मुझे ही प्राप्त करते हैं। इस प्रकार दोनों उपासकों को समकक्ष ठहरा दिया। फिर भी सगुण उपासकों के लिए युक्ततम शब्द का व्यवहार किया था। दरअसल यह भेद उपासकों का नहीं उपासना पद्धति का है। यह भगवान अगले श्लोकों में स्पष्ट करते हैं:-

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।५।।

अव्यक्त में आसक्त चित्त वाले उन साधकों को कष्ट अधिक होता है क्योंकि देह धारियों के द्वारा अव्यक्त विषयक गति कठिनाई से प्राप्त की जाती है।

भगवान तो करुणावालय हैं। वे तो उसी को श्रेष्ठ बताते हैं जो उन्हें शिष्य के लिए सरल जान पड़ता है। वे स्वयं भक्त को श्रेष्ठतम नहीं बताते तो ज्ञान मार्गी उन्हें हीन समझ कर अपने अहंकार को फुला लेते जो उनके लिए भी घातक होता। भक्त को श्रेष्ठ बताकर उन्होंने अल्पशक्ति वाले पुत्र की भी पीठ थपथपा दी और अधिक शक्ति वाले पुत्र को भी घमंड से बचा लिया।

यहां देहधारी का वास्तविक अर्थ है देहाभिमानी। देह तो हम सबने धारण की हुई है। अतः इन्हीं इन्द्रिय मन बुद्धि द्वारा सब देखते जानते समझते हैं। किन्तु ब्रह्म की प्राप्ति तो मन बुद्धि तो क्या, अहंकार को भी मिटा कर छलांग लगाने से होती है। बहुत ऊंची छलांग है यह। बहुत कठिन होता है अपने को मिटा देना, विशेष कर देहाभिमानियों अर्थात् अपनी देह के प्रति आसक्ति रखने वालों के लिए। बहुत बार तो भय ही हो जाता है कि हम मिट गए तो क्या होगा।

ओलम्पिक में ऊंची छलांग लगाने वाले एथलीट एक लम्बा डंडा लेकर दौड़ते हैं। उस डंडे के सहारे वे जोर लगाकर ऊपर तक पहुंच जाते हैं जहां रस्सा बंधा है। जहां तक उनको जोर लगाना है, वहां तक एक डंडा उनके साथ रहता है। फिर उन्हें कुछ नहीं करना पड़ता। वे रस्से के पार पहुंच जाते हैं। उनकी छलांग सफल हो जाती है। हमारे कन्हैया तो भक्तों को डंडे की भांति सहारा देते हैं। उनके सहारे हम दौड़ पाते हैं, अपने को मिटाने का साहस कर पाते हैं। हमारे प्रयत्नों में सदा साथ रहते हैं वे। फिर एक स्थिति आती है कि भक्त को कुछ करना ही नहीं पड़ता। वह तो अपने आप को छोड़ देता है बस।

निर्गुण उपासक के पास ऐसा कोई डंडा नहीं होता। उसे तो ऐसे ही दौड़ना और कूदना है। निश्चित रूप से यह कठिन ही होगा। हम तो ऐसे हैं कि हमारी सम्पूर्ण चेतना केन्द्रित ही रहती है शरीर में। ध्यान करने भी लगते

हैं तो पहले सर्दी गर्मी की व्यवस्था करके बैठते हैं। एक मक्खी की हल्की सी भनभन भी हमें उत्तेजित कर देती है। ऐसे में ध्यान क्या लगेगा? इसलिए विषयों का आकर्षण छूट भी जाए तो देह के अभिमान, इसकी तकलीफ आराम से ऊपर उठना भी बहुत कठिन होगा।

भगवान स्वयं ही कह रहे हैं कि इसमें क्लेश बहुत है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जो इस प्रकार साधना कर रहे हैं वे निरुत्साहित होकर छोड़ दें कि भगवान ही कठिन बता रहे हैं तो मुझ अल्पशक्ति की क्या सामर्थ्य! हम सभी जानते हैं कि कार से कहीं जाना सरल है, बस से जाने में तकलीफ अधिक है, पर क्या बस से यात्रा करने वालों की संख्या कार यात्रियों से अधिक नहीं होती? यह तो अपनी-अपनी सामर्थ्य की बात है। भक्ति के लिए जो भावुक प्रेमपूर्ण हृदय चाहिए वह सबके पास नहीं होता।

ध्यान देने की एक बात और है कि गीता उपनिषदों के विषयों पर लिखी गई थीसिस नहीं। यह गुरु-शिष्य संवाद है। गुरु जब उपदेश करते हैं तो शिष्य को परिचय सभी मार्गों का देते हैं पर अधिक जोर उसी पर देते हैं तो उनके मत में उस विशेष शिष्य के लिए उपयुक्त हो। यहां शिष्य अर्जुन है- कर्मठ, देहाभिमान से भरा हुआ और भावुक भी इतना कि पितामह को देख कर कांपने लगा। यहां भगवान अर्जुन के माध्यम से माया मोह में फंसे हम साधारण देहाभिमानियों को उपदेश दे रहे हैं अतः भक्ति को श्रेष्ठ बता रहे हैं। यदि उनके शिष्य के रूप में बुद्ध या शंकराचार्य खड़े होते तो ज्ञान को श्रेष्ठ बता देते हैं। जैसे हम बच्चों को कह देते है-'तुम सबसे अच्छे हो और तुम और भी अच्छे हो।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।६।।

परन्तु जो सभी कर्मों को मेरे अर्पण करके और मेरे ही परायण होकर अनन्य योग से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं-

ग्यारहवें अध्याय के अंतिम श्लोक में भगवान ने अपने पद की प्राप्ति के लिए मेरे लिए कर्म करना, मेरे परायण होना, मेरी भक्ति करना, आसक्ति

न रखना, निर्वैर होना, ये पांच साधनाएं बताई थी। बीच में अर्जुन द्वारा उपासकों की श्रेष्ठता के संबंध में प्रश्न पूछने पर उसका उत्तर देकर अब पुनः वे उस सूत्र को पकड़ लेते हैं। भक्ति के बारे में पिछले पांच अध्यायों में कुछ न कुछ कहते ही आ रहे हैं। यह बारहवां अध्याय भक्ति का उपसंहार है। जो कुछ भी स्थान स्थान पर कहा गया है उसका एकीकृत रूप हमें इस अध्याय में मिल जाता है।

भक्ति की साधना में पहली बात भगवान ने बतायी- सभी कर्मों को भगवान के अर्पण करना। भगवान अत्यन्त कुशल गुरु हैं। वे अपनी बात वहीं से शुरु करते हैं जहां हम अभी इस क्षण खड़े हुए हैं। हम गृहस्थी संसारी अपने-अपने जंजालों में फंसे, विभिन्न कर्मों की अनिवार्यता से बंधे, विभिन्न कामनाओं की बेड़ियों से जकड़े अपने आप को मजबूर समझते हैं। हमें लगता है कि हम तो आत्म उद्धार या भगवत् प्राप्ति के लिए चाहते हुए भी कुछ नहीं कर पाते। भगवान कहते हैं- कुछ विशेष नहीं करना तुम्हें। बस इतना करो कि अपने सभी कर्मों को मुझे अर्पण कर दो।

अभी सभी झंझटों की जड़ इसी विचार से शुरू होती है कि 'मैं कर्म रहा हूं। यह कर्म मेरे लिए है, यह कर्म मेरे प्रिय के लिए है। यह बहुत आवश्यक है मेरे लिये क्योंकि इससे फलां लाभ होगा जो मेरे परिवार के लिए बहुत आवश्यक है।' भगवान कहते हैं-कर्म जो तुम कर रहे हो वही करो। केवल विचार बदलो। 'मुझे कर्मशक्ति और कर्म क्षेत्र भी भगवान का ही दिया हुआ है, मेरी अपनी कोई सामर्थ्य नहीं, मैं भगवान के हाथों की कठपुतली मात्र हूं। भगवान ही अपनी इच्छा से मुझसे समस्त कर्म करवा रहे हैं अतः इनके फलों से मुझे कोई लेना-देना नहीं है।' जैसे सेठजी का मैनेजर सेठजी के पैसे से सेठजी के कारखाने में कोई काम करवाता है तो उस काम और उससे मिलने वाले लाभ-हानि को अपना नहीं समझता। उसी प्रकार हम भी समझें कि कर्मों का फल भी भगवान का ही हो। मेरे बच्चों को, मेरे परिवार को क्या मिलना चाहिए क्या नहीं, यह निर्णय भी उन्हीं का हो, मेरा नहीं। यह कर्म संन्यास है। यह पहला चरण है भक्ति का।

इस प्रकार जब कर्म और उसके फलों पर अपना अधिकार छूट कर प्रभु का लगने लग जाये तो यह भाव दृढ़ करने का प्रयत्न करें कि मुझ

पर भी भगवान का ही अधिकार है। मैं भगवान का हूं, भगवान मेरे हैं। मेरी मूढ़ता के कारण भगवान मेरे होकर भी मुझे मिल नहीं रहे। मुझे इस मूढ़ता के पर्दे को चीर डालना है। मुझे भगवान को ही पाना है। अभी तो हम सोचते हैं कि हम गृहस्थ हैं। हमारा सर्वोच्च धर्म गृहस्थी का लालन-पालन है। भजन-पूजन तो एक्स्ट्रा वर्क है या गृहस्थ होने के नाते हमें कुछ पूजा पाठ वगैरह करना चाहिए इसलिए करते हैं। इस भाव के बदले यह भाव लाए कि हम भक्त हैं। भगवान की प्राप्ति के लिए साधना करना सर्वोच्च धर्म है। यह गृहस्थी तो हमें इसलिए करनी है और उत्तम ढंग से करनी है क्योंकि भगवान ने यह कार्यक्षेत्र हमारे लिए निश्चित किया है। तब गृहस्थी का कार्य भी हमारी साधना का अंग हो जायेगा। वह भी सुचारु रूप से चलेगी और परम लक्ष्य से हमारी आंख नहीं हटेगी। गृहस्थी का लक्ष्य भी भगवान की प्राप्ति हो जायेगा। यह भगवत् परायणता है। इसके लिए भगवान ने उक्त श्लोक में मत्परः शब्द का व्यवहार किया है।

इसका अगला चरण अनन्य योग के साथ उपासना करना है। पिछले चरण में तो यह भाव आया था कि भगवान चाहिए। फिर यह भाव परिपक्व हो जाए कि भगवान ही चाहिए, अवश्य ही चाहिए, इसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं चाहिए। इन तीन चरणों के बाद की यात्रा कैसी होगी? भगवान कहते हैं-

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।७।।

हे पार्थ! मेरे में आवेशित चित्तवाले उन भक्तों का मैं मृत्यु रूप संसार समुद्र से शीघ्र उद्धार करने वाला बन जाता हूं।

चित्त के अन्तर्गत मन और बुद्धि दोनों आ जाते हैं। जब मन की सारी भावनाएं प्रभु पर केन्द्रित हो जाएं, उन्हें अपना बना लेने को जी चाहे, मन उन्हीं के समीप रहना चाहे, अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये भी मन उन्हीं से आशा रखने लगे और स्मरण-चिन्तन द्वारा उनके सामीप्य का अनुभव कर आनंदित हो तो यह मन का प्रभु में आवेशित होना है। इन सबके साथ जब

यह भाव भी आ जाये कि मेरे परम लक्ष्य, मेरे समस्त कर्मों के प्राप्तव्य वही हैं तो यह बुद्धि का प्रभु में आवेशित होना है। इस प्रकार जिसके मन-बुद्धि हो जाएं उसके लिए भगवान ने 'मय्यावेशित चेतसाम्' शब्द का व्यवहार किया है।

और भगवान उद्घोष करते हैं- 'इस मृत्यु रूप संसार से शीघ्र ही उनकी मुक्ति मैं करवाता हूं।' हम तो अभी क्षण-क्षण मरते हैं। हर बात में कहते हैं- 'मर गए, अब क्या होगा।' इस 'मर गए' के पीछे कितनी कामनाएं, कितने राग, कितने द्वेष, कितने लोभ होते हैं। इन सबसे मुक्त होना ही मृत्यु संसार सागर से उद्धार पाना है।

ज्ञानी तो मुक्ति का लक्ष्य सामने रख कर साधना करता है। उसका बल उसका पुरुषार्थ होता है। किन्तु भक्त तो मुक्ति की बात सोचता नहीं, न वह सोचता है कि मैं ही ब्रह्म हूं। वह तो भगवान के साथ एक होने की बात भी सोचता। वह तो केवल उसका समीप्य चाहता है। प्रभु का चाकर बने रहने में ही उसे मस्ती का अनुभव होता है। इसके आगे की यत्रा करने की इच्छा तो होती नहीं। वह काम प्रभु ही अपने जिम्मे ले लेते हैं। कहीं-कहीं पढ़ने मिल जाता है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती। भक्ति के पथ पर जिसने अभी कदम रखा है वह भ्रमित हो जाता है- क्या मेरी साधना मुझे पूर्णता तक नहीं पहुंचाएगी? भगवान ने स्पष्ट किया है-'तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारी नाव का खेवय्या, तुम्हारे रथ का सारथी अब मैं हूं। तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।'

श्री कृष्ण का तो स्वभाव ही है, एक बार जहां किसी ने सच्चे मन से कहा 'कनूं मैं तेरा' वह झटपट हाथ पकड़ लेता है- 'हां तू मेरा।' वह जो पकड़ता है तो छोड़ना नहीं जानता और उसकी पकड़ हमारी पकड़ की तरह कच्ची भी नहीं होती। हम पकड़ें तो पकड़ ढीली हो सकती है, लेकिन भगवान कह रहे हैं कि जैसे ही तुम अपने अहंकार की दीवार गिराते हो,अपनी अस्मिता के घेरे को तोड़ते हो, मुझसे मिलने को व्याकुल होते हो वैसे ही मैं पकड़ लेता हूं तुम्हें। आगे का रास्ता मैं तय करवाता हूं। बस एक बार यह जाग हो जाए कि वह जाग रहा है, फिर पूरी यात्रा निश्िंचतता के साथ बिता सकते हैं हम। वह जागा ही रहेगा यह देखने के लिए भक्त को क्या मिलना चाहिए क्या नहीं।

बहुत बार हमें लगता है कि अमुक व्यक्ति तो कितना दुराचारी है, फिर भी देखो, कितना ऐश्वर्य है उसके पास। और वह बिचारा भक्त, दोनों समय का भोजन भी नहीं मिलता उसे। भगवान के दरबार में यह अंधेर क्यों? मंदिर में पुजारियों को जब पाप में लिप्त पाते हैं तो मन में आता है- कैसा भगवान है यह, अपने पुजारियों को भी सबक नहीं सिखाता। दरअसल वह दुराचारी और वह पुजारी भगवान को अपनी परम गति नहीं मानता। पुजारी भी बस मंदिर की पूजा-अर्चना कर लेता है, पर प्रभु को अपना मन नहीं देता। और जिसने अपना मन नहीं सौंपा उससे कन्हैया को कुछ लेना-देना नहीं। उसका चाहे जो भी हो। आज वह ऐश्वर्य भोग रहा है, कल हो सकता है कि परम दुर्गति हो, पर वह किसी बात के बीच में नहीं पड़ता। वह तो उन्हीं के उद्धार में व्यस्त है जिसने अपना मन सौंपा है उसे। उसका उद्धार अपनी धन राशि का दान करने में है या भूखे पेट रहने में यह देखना उसका काम है। उसका निर्णय ही सही निर्णय है। और सच्चे भक्त की शंका होती भी नहीं। हम सतही लोग ही इस प्रकार शंकाओं में उलझकर न्याय-अन्याय की दुहाई देते हैं। भक्त को तो आइसक्रीम मिली हुई है, टॉफी मिले तो क्या, न मिले तो क्या।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।८।।

मुझमें मन को लगा और मुझमें ही बुद्धि को लगा। इसके उपरांत तूं मुझमें ही निवास करेगा इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

अब तक भगवान ने सगुण और निर्गुण दोनों उपासनाओं का निरूपण किया था। इस श्लोक में उसका उपसंहार करते हुए वे अर्जुन को स्पष्ट निर्देश दे रहे हैं कि तू तो मुझमें ही मन-बुद्धि लगा अर्थात् अर्जुन तू तो सगुण भक्ति की राह पर ही चल। तेरे लिए यही श्रेष्ठ रहेगा। अर्जुन के पास प्रेमपूर्ण हृदय था। श्री कृष्ण से उसे कैसा निश्छल प्रेम था यह हम ग्यारहवें अध्याय में स्पष्ट देख चुके हैं। किन्तु विषादग्रस्त होने पर उसने संसार को त्याग, भिक्षाटन कर साधु का जीवन चुनना चाहा था। भगवान उससे स्पष्ट कह रहे हैं कि

तुम्हारे लिए प्रेम का पथ ही ठीक है।

भगवान द्वारा गीता में भक्ति की इतनी स्पष्ट अनुशंसा करने के बाद भी ऐसे विद्वानों की कमी नहीं जो 'ज्ञान और भक्ति में श्रेष्ठ कौन' के विवाद में उलझते हैं। ध्यान लगाकर ब्रह्मानुभूति का प्रयत्न करने वाले अनेक साधक मिल जायेंगे जो अपने पथ को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। इससे उसके अहंकर में वृद्धि ही होती है और ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में वे पीछे ही होते हैं।

एक मकान के दो रास्ते हैं। एक में बढ़िया सड़क बनी है, दूसरा दुर्गम है। अब दुर्गम राह पर चलने वाला छाती फुलाए कि मैं तो महान हूं, मैं तो कठिन राह से इस मकान तक पहुंचा हूं तो सुगम मार्ग से जाने वाला यही कहेगा- 'तुम महान ही सही।' ज्ञान के मार्ग में अभिमान बहुत जल्दी आता है और इसे दूर करना भी बहुत कठिन होता है। जब तक अहंकार का लेशमात्र भी है, ब्रह्मानुभूति हो नहीं सकती। किन्तु भक्ति के मार्ग में यह खंदक है नहीं। यह तो दीवनों का, अपने को दास समझने वालों का मार्ग है, इसमें तो अहंकार का विगलन पहले ही चरण से होने लगता है, अतः यह सुगम है, बशर्ते कि अर्जुन जैसा निश्छल, भावुक, प्रेमपूर्ण हृदय हो। ज्ञानी या योगी भ्रष्ट हो सकता है यानि अपनी साधना से गिर सकता है लेकिन भक्त के लिए कहीं भक्ति भ्रष्ट का उल्लेख ही नहीं आता। क्यों? इसका उत्तर देते हुए एक महात्मा कहते हैं- क्योंकि भक्त तो आरम्भ से गिरा हुआ ही है। वह और क्या गिरेगा।

एक बात और है। मन-बुद्धि भगवान में लगे कैसे? पहले तो हम संसार की ओर देखें। चारों ओर फैली स्वार्थ लोलुपता पर नजर डालें और समझने का प्रयत्न करें कि ये सारे रिश्ते धन या अन्य स्वार्थ से ही जुड़े हैं। ऐसा विचार कर उनसे वैराग्य बढ़ाएं। फिर स्वयं को देखें। तब हमें पता चलेगा कि हममें कितना राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह भरा पड़ा है। संसार को तो हम भला-बुरा कह रहे हैं पर हम स्वयं कितने अधम और पतित हैं। ऐसा विचार कर उत्थान के लिए व्याकुलता बढ़ाएं। ऊपर उठने की व्याकुलता बढ़ी तो हम निश्चय ही प्रयत्न करेंगे। हम जानना चाहेंगे कि आत्मोत्थान कैसे हो सकता है। इसका साधन सत्संग है जिससे वैराग्य भी दृढ़ होगा। तब हम प्रभु को भी देखना सीखेंगे। तब हमें पता चलेगा कि प्रभु की कृपा से ही सब

कुछ संभव है। तब हमें पता चलेगा कि सबके आश्रयदाता एक मात्र प्रभु ही हैं। तब हमें पता चलेगा कि संसार की किसी भी क्रिया से पूर्णता प्राप्त नहीं की जा सकती। तब हमें पता चलेगा कि हम पूर्ण तभी होंगे जब अपने को जितने हैं उतना भी पूरी तरह मिटा डालेंगे। तब हमें पता चलेगा कि श्री हरि की शरण ही हमें मृत्यु संसार से पार लगा सकती है। तब सच्चे मन से अपनी समस्त कमजोरियों, अच्छाइयों सहित अपने को प्रभु को सौंप दें। इसमें भगवान की लीलाओं का चिंतन, कथाओं का श्रवण और मनन अत्यन्त सहायक होगा। बुद्धि भगवान में लगाने की साधना को हम समर्पण योग कह सकते हैं।

काफी लम्बी प्रक्रिया है मन-बुद्धि को लगाने की। इसके लिए भावनापूर्ण हृदय भी चाहिए और प्रखर बुद्धि तथा चिंतनशीलता भी। साथ ही स्थिर चित्तता भी होनी चाहिए। इतना कुछ तो मेरे पास है नहीं। तब मैं क्या करूं? भगवान बताते हैं-

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।।९।।

यदि तू चित्त को मुझमें स्थिर करने में समर्थ नहीं है तो हे धनंजय! अभ्यास रूप योग के द्वारा मेरी प्राप्ति की इच्छा कर!

यहां अर्जुन को तो निमित्त बनाया है भगवान ने और भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले मनुष्यों के लिए उपदेश दे रहे हैं। अर्जुन तो चिंतनशील भावुक और प्रेमपूर्ण हृदय वाला था ही। उसने तो प्रभु की शरणागति ग्रहण कर ही रखी थी। उसे किसी दूसरे मार्ग की आवश्यकता नहीं, पर संसार में और बहुत लोग हैं। सबकी सामर्थ्य अलग-अलग है। स्वभाव अलग-अलग है, इसलिए भगवान अब तीन श्लोकों में भिन्न-भिन्न प्रकार की साधनाएं बता रहे हैं।

जिनके मन बुद्धि विकसित नहीं है, वे प्रभु संबंधी गूढ़ रहस्यों को समझकर हृदय में धारण नहीं कर पाते। वे समर्पण योग के पात्र नहीं, उनके लिए तो अभ्यास योग एक सरल और उत्तम साधन है। रत्नाकर डाकू में कहां क्षमता थी मन बुद्धि को ईश्वर में लगाने की? वह तो पाप और हत्या में ऐसा

डूबा हुआ था कि राम शब्द भी उच्चारण नहीं कर पा रहा था और देवर्षि नारद ने उसे 'मरा-मरा' जपते रहने का उपदेश दिया। इसी के अभ्यास से उसकी मुक्ति हो गयी, उसे ज्ञान भी हो गया। रत्नाकर वाल्मीकि बन गया।

भगवान की प्राप्ति के लिये चित्त को किसी एक क्रिया में लगाए रखने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, उसे अभ्यास योग कहते हैं। अभ्यास के अन्तर्गत किसी भी मंत्र का बार-बार पाठ करना, प्राणायाम द्वारा श्वासों का निग्रह करके स्थिर करना, गीता रामायण आदि का नियमित पाठ करना, ओंकार का जप करना, माला फेरना आदि आते हैं। इनमें से कोई भी अभ्यास यदि रत्नाकर की सी श्रद्धा और अटूट विश्वास तथा लगन के साथ हो तो भगवत प्राप्ति हो जाती है। करमा बाई तो भगवान को खिचड़ी खिलाने के पीछे ही पड़ गई थी और भगवान को प्रकट होना ही पड़ा, क्योंकि उसका विश्वास अटूट था, लगन दृढ़ थी।

अभ्यास में उत्साह बना रहना चाहिए। फल प्राप्ति में देर हो रही हो तो ऊबकर छोड़ना नहीं चाहिए, वरन् अपने अभ्यास में ही कमी समझकर उसे बढाना चाहिए।

अभ्यास के लिए भी तो दृढ़ता चाहिए, एक ही काम को बार-बार करना बोरिंग लगने लगता है। मन तो मेरा बहुत चंचल है, कहीं भी एक जगह टिकता नहीं, कभी कहीं जाता है, कभी कहीं। मैं क्या करूं? भगवान बताते हैं:-

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवास्प्यसि ।।१०।।

यदि तू अभ्यास में असमर्थ हो तो केवल मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे लिए कर्म करता हुआ भी तूं मुझे प्राप्त कर लेगा।

एक ही काम में तुम्हारा चंचल मन स्थिर नहीं होता तो कोई बात नहीं, अलग-अलग काम करो। कभी दान, कभी पूजा, कभी तीर्थ यात्रा, कभी

माता-पिता की सेवा कभी पुत्र का लालन पालन किन्तु सबमें एक भाव रहे कि अमुक कर्म अपने लिए नहीं भगवान के लिए कर रहा हूं।

पहले छठे श्लोक में भक्त के लक्षण बताते समय भगवान ने कहा- सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य अर्थात् भक्त सब कर्मों को मुझमें अर्पण करता है। यहां वे 'मेरे लिए' कार्य करने की बात कह रहे हैं। कर्मों को प्रभु के अर्पण करना और प्रभु के लिए कर्म करना ये दोनों भाव ही भक्ति के अन्तर्गत है पर दोनों में सूक्ष्म अंतर है। जैसा कि पहले बताया गयाा है कि कर्म को अर्पण करने वाला अपने को कठपुतली समझता है और यह मानता है कि प्रभु ही सब कुछ करा रहे हैं।

भगवान के लिए कार्य करने वाला ऐसा नहीं सोचता। वह सोचता है कि प्रभु मालिक है मैं उनका दास हूं। मुझे तो उनकी सेवा करनी है बस। हर कार्य को वह प्रभु की सेवा मानकर करता है। उसके द्वारा प्रभु की सेवा हो रही है इस विचार में ही वह मस्त रहता है। इसके आगे वह और कुछ नहीं सोचता। वृंदावन में तो आज भी ऐसे भक्तों की कमी नहीं है जिनके लिए बांके बिहारी जी अत्यंत लाड़ले हैं। उनका पूरा जीवन उनकी सेवा, उनके ध्यान में ही बीतता है और वे समझते हैं- हम बिहारी जी की निकटता पा रहे हैं उनकी सेवा का अवसर मिल पा रहा है इससे बड़ी उपलब्धि और क्या होगी? उन्हें मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं। उनकी कामनाओं, राग, द्वेषों का त्याग तो सहज ही हो गया है। हमें इस भाव को अपने स्थान में बैठकर ही अपनाना चाहिए और नित्य का भोजन बनाने को भी भगवान की सेवा माननी चाहिए। हर कार्य को उनकी सेवा समझने की देर है, वे हमारी सेवा अवश्य लेंगे। हमारे वर्णाश्रमोचित समस्त कर्म हमारी मुक्ति के साधन बन जाएंगे।

बड़ा कठिन लगता है कर्म भगवान के लिए करना। हमारा मन तो संसार में ऐसा फंसा हुआ है कि कभी लगता है पुत्र के लिए कुछ करूं, कभी लगता पत्नी के लिए कुछ करूं, कभी लगता है मेरा अमुक मित्र बहुत तकलीफ में है उसके लिए कुछ करना चहिए, कभी लगता है समाज के लिए कुछ करना चाहिए। कभी देश सेवा करने का भी मन करता है पर भगवान की बात तो मन में आती नहीं। मैं क्या करूं? भगवान कहते हैं -

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।११।।

यदि तुम मेरे आश्रित होकर कर्म करने में भी असमर्थ हो तो यतात्मवान यानि मन, बुद्धि पर विजय प्राप्त करने वाला होकर सब कर्मों के फल का त्याग करो।

कर्म की अपेक्षा फल पर अपना अधिकार छोड़ना ज्यादा सरल होता है क्योंकि फल अभी मिलने वाला नहीं। कब मिलेगा नहीं जानते। मिलेगा कि नहीं, मिलेगा तो कितना मिलेगा यह भी पता नहीं अतः उससे मोह कम होता है। जैसे दो मित्र साथ-साथ हों। एक के कहने पर दूसरा लाटरी का टिकट खरीदे तो उसे यह कहने में विशेष परिश्रम नहीं होगा कि लाटरी निकल गई तो आधा तुम्हारा। अभी उसकी पाकेट में दस रुपये हों तो वह पांच नहीं दे सकता पर भविष्य में एक लाख मिलेगा तो पचास हजार मित्र के होगें यह मन वह बना सकता है। भगवान कहते हैं- तुम यहीं से शुरू करो। तुम मेरे लिये कर्म नहीं कर सकते तो कोई बात नहीं। पर इतना जरूर करो कि जो कुछ भी कर्म तुम कर रहे हो, यह 'मैं अपने लाभ के लिए कर रहा हूं' यह भाव मत रखो। तुम उसे अपना कर्तव्य मानकर करो या परोपकार की भावना से करो, पर अपने लिए मत करो। परोपकार में भी पुण्य कमाने या यश पाने की लालसा मत रखो। यदि इतना तुम कर पाये तो धीरे-धीरे इस लोक और परलोक के भोगों के प्रति आसक्ति, ममता और कामना का त्याग हो जाएगा। तुम्हारे चित की शुद्धि हो जाएगी। तुम्हारा वर्णाश्रम धर्म ही तुम्हारे कल्याण का साधन बन जाएगा। यह निष्काम कर्म की साधना है। कर्मो के संन्यास और भगवान को अर्पित करते हुए कर्म करने से इसके भाव अलग हैं।

भगवान की वाणी से कोई यह नहीं समझ बैठे कि हम जो चाहें कर सकते हैं। फल की आशा के बिना राह चलते किसी का गला घोंट दें, किसी के पैसे चुराकर दूसरों को दे दें, मित्र के लाभ के लिए हर किसी को ठग लें। चूंकि इन सब कर्मो से हमारी अपनी फलासक्ति नहीं है, अतः

ये सब किये जा सकते हैं। इसीलिये भगवान ने यतात्मवान् शब्द बीच में लगा दिया। कर्म करते समय अपने मन और बुद्धि पर पूरा नियंत्रण हो। यह नहीं कि मन हुआ अमुक को छेड़ें जरा और उससे ऐसा मजाक किया कि जी का जंजाल बन गया। बुद्धि ने कहा- अमुक को बेवकूफ बनाओ और धोखेबाजीपर उतर आएं। यदि मन, बुद्धि पर हमारा पूर्ण अंकुश और संयम होगा तो निषिद्ध कर्म अपने आप छुट जाएंगे। केवल कर्तव्य, कर्म ही रह जायेंगे जो हमारे कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते जाएंगे।

आठवें से ग्यारहवें श्लोक तक भगवान ने समर्पण, अभ्यास, भगवदर्थ कर्म और कर्म फल त्याग, ये चार साधन बताए। इसमें भगवान की भाषा है- यदि ऐसा न कर सकते तो ऐसा करो। इससे हम यह न समझ बैठें कि ग्यारहवें श्लोक में बताई साधना निम्न कोटि की है और आठवें की साधना उच्च कोटि की। साधना सब बराबर है क्योंकि सबका फल एक ही है- भगवत् प्राप्ति। यह भेद तो सामर्थ्य के भेद के कारण है। एक दुर्बल, रोगी व्यक्ति तो चुपचाप बैठा भजन और जप कर सकता है। पर एक पहलवान बैठ कर भजन नहीं कर सकता। किन्तु वह और बहुत कुछ कर सकता है। उसे यदि निष्काम कर्म की साधना बताई तो वह उस रोगी की साधना से हीन कैसे होगी?

अलग-अलग प्रकार के साधक इस भाषा से भ्रमित होकर अपने को उच्च या हीन समझकर अभिमान या दैन्य से ग्रस्त न हो जायें अत: भगवान अगले श्लोक में साधनाओं का क्रम उलट पुलट कर फल त्याग को सबसे श्रेष्ठ बता देते हैं।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

(मर्म को न जानकर किए गए) अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से (परमेश्वर के स्वरूप का) ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से भी कर्मो के फल का त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि त्याग से तत्काल शांति प्राप्त होती है।

इस श्लोक में जब ज्ञान और अभ्यास की तुलना की गई है तो ज्ञान

का अर्थ अभ्यास विहीन ज्ञान और अभ्यास का अर्थ ज्ञानविहीन अभ्यास लेना उचित होगा क्योंकि यदि ज्ञान के साथ कुछ अभ्यास मिला हो तो वह सर्वोत्तम है ही, उसमें तुलना का प्रश्न रह ही नहीं जाता ।

बहुत से साधक ऐसे होते है जिन्हें किसी एक मंत्र का जाप से कोई क्रिया लगातार करते रहने को कहा जाता है। वे यह क्रिया करते रहते हैं पर उन्हें प्रभु विषयक कोई ज्ञान नहीं होता है। वे यह नहीं समझते कि उन्हें आत्मोद्धार या प्रभु प्राप्ति के लिए कुछ करना है। वे भगवद् महिमा को जाने बिना अभ्यास करते रहते है। इससे उन्हें कई प्रकार की शक्तियां, सिद्धियां प्राप्त हो सकती है। हो सकता है वे दो घंटे श्वास रोक कर रहने में समर्थ हो जाए, मुंह खोल कर आग उगलने का प्रदर्शन कर पाएं या अपने शरीर के ऊपर से ट्रैक्टर चलवा पाए। किन्तु ऐसी सिद्धियां मानव को ऊपर नहीं उठा सकती। इन सिद्धियों की प्राप्ति की कामना न रह कर यदि प्रभु प्राप्ति की कामना हो जाए तो वह अभ्यास नहीं अभ्यास योग हो जायेगा। भगवान ने नवें श्लोक में 'अभ्यास योगेन ततः माम् इच्छाप्तुं धनन्जय' कहा था। इस श्लोक में अभ्यास योग की नहीं अभ्यास ही की बात कही गई है।

संसार में हम गृहस्थियों में अनेकों ऐसे हैं जो रोज सुबह गंगा में स्नान करते हैं, मंदिर जाते है, फिर तीन चार घंटे पाठ करते हैं, माला फेरते हैं। वर्षों से ऐसा वे अभ्यास के रूप में करते आए हैं। उनका प्रयोजन भगवत् प्राप्ति नहीं होता। वे कभी व्याकुल नहीं होते कि वर्षों से पूजा पाठ करने पर भी भगवत् प्राप्ति हुई क्यों नहीं क्योंकि उनके लिए यह मात्र क्रिया है। इसमें मन, बुद्धि आवेशित नहीं होती। यह अभ्यास है, अभ्यास योग नहीं।

इसी प्रकार ज्ञान का अर्थ यहां शास्त्र ज्ञान है तत्व ज्ञान नहीं। तत्व ज्ञान जिसे हो गया हो वह तो उच्चतम स्थिति तक पहुंच ही चुका है। फिर उसकी साधना के तुलनात्मक विवेचन की बात ही कहां रह जाती है। यहां तो पोथी के ज्ञान की बात कही गई है जिसमें जीव, जगत, ईश्वर, उनके संबंध आदि की जानकारी तो मिल जाती है। पर इसमें न अभ्यास है, न ध्यान, न निष्काम कर्म की साधना। ऐसे ज्ञानी दार्शनिक कहलाते हैं, विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर बन जाते हैं। अपने ज्ञान को व्यवहार में उतारने का प्रयत्न नहीं करते। वे अपने ज्ञान के द्वारा धन, यश कमा सकते हैं। किन्तु भगवत् प्राप्ति नहीं कर सकते।

भगवान जब ज्ञान विहीन अभ्यास से अभ्यास विहीन ज्ञान को श्रेष्ठ बता रहे हैं तो उनका तात्पर्य यह है कि भगवत् प्राप्ति की अभिलाषा जाग जाये तो ज्ञानी के लिए संसार से ऊंचा उठना अधिक सुगम है ।

इसके बाद भगवान कहते हैं कि ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है। यहां ध्यान शब्द भी मन की एकाग्रता के लिए की गई क्रिया का सूचक है ध्यान योग का नहीं जो कि परमात्मा की प्राप्ति के लक्ष्य से किया जाता है। मन की एकाग्रता के लिए ध्यान करने वाले का अपनी वृत्तियों पर निरोध तो हो ही जाता है और आत्मिक शक्ति का संचय होता है। इतना हो जाने के बाद यदि प्रभु प्राप्ति की अभिलाषा उत्कट हो जाए तो परमात्मा की प्राप्ति में देर नहीं लगेगी। ज्ञान से ध्यान को विशिष्ट बताने में भगवान का तात्पर्य यह है कि शांति तो ज्ञान और ध्यान के योग से ही मिल सकती है पर ज्ञानी के लिए ध्यानी भी बनना कठिन है किन्तु ध्यानी अपने नियंत्रित मन के कारण ज्ञानी आसानी से बन सकता है।

इन सबसे श्रेष्ठ उन्होंने कर्म फल त्याग को बताया है। देखा जाए तो कर्म फल की आसक्ति के त्याग के प्रति गीता का जितना आग्रह है उतना किसी और साधना के लिए नहीं। भगवान कह रहे हैं कि कर्म फल त्याग से अनन्त शांति की प्राप्ति तत्काल ही हो जाती है। यह अनन्त शांति ही परमात्मप्राप्ति है।

अभ्यास, ज्ञान और ध्यान इन तीन साधनाओं में हमने पाया कि कोई भी साधना अपने में पूर्ण नहीं। ज्ञान सैद्धान्तिक है और अभ्यास तथा ध्यान उस ज्ञान का व्यवहारिक अनुष्ठान हैं। दोनों बातों के मिलने पर ही अनन्त शांति की प्राप्ति हो सकती है। बिना ज्ञान के अभ्यास और ध्यान पंगु है। ध्यान के बिना ज्ञान लंगड़ा है। किंतु कर्म फल त्याग किसी दूसरी साधना पर अवलंबित नहीं। फल की आसक्ति ही संसार के सभी बन्धनों की डाइरेक्ट जड़ है। यह कट जाए तो सारे बन्धन टूट जाते हैं और साधक उन्मुक्त हो जाता है। इस साधना के लिए न तो शास्त्र का ज्ञान और आत्मा अनात्मा का विवेक आवश्यक है न श्रद्धा प्रेम युक्त हृदय। इसमें न ज्ञान की प्रधानता है, न भक्ति की। यह तो नितान्त स्वतंत्र साधना है जिसे कर्म योग कहते हैं। बारहवें अध्याय में भगवान मुख्यत: भक्ति का प्रतिपादन कर रहे हैं, भक्तों को अति प्रिय बता रहे हैं किंतु

ऐसे प्रसंग के बीच में भी कर्म योग की अनुशंसा स्पष्ट करती है कि भगवान श्री कृष्ण का कर्म के प्रति कितना प्रबल आग्रह है।

अब अगले सात श्लोकों में भगवान उन प्रेमी भक्तों के लक्षण बताते हैं जिन्होंने भगवान को पा लिया है। सिद्ध भक्तों के ये लक्षण साधकों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इन्हीं के द्वारा वे अपना लक्ष्य निश्चित कर साधना कर सके हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।१३।।

जो पुरुष सभी भूतों से द्वेषरहित, सभी से मित्रता और करुणा का भाव रखने वाला, ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुख में सम, क्षमावान है।

इस श्लोक में भगवान ने भक्त के सात लक्षण बताए हैं। इसी प्रकार का प्रकरण दूसरे अध्याय के अंत में भी आया था जब भगवान ने स्थित प्रज्ञ के लक्षण बताए थे। हम पाएंगे कि दोनों के लक्षण एक ही हैं। सिद्ध अवस्था ज्ञानी की भी वही होती है जो भक्त की। दोनों उसी स्थिति पर पहुंच जाते हैं पर दोनों के विचार करने का तरीका अलग-अलग होता है। यह तुलनात्मक अध्ययन हम उपसंहार में करेंगे।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां:-भक्ति की राह पर चल कर जिसका मिलन अपने प्रभु के साथ हो गया है उसे तो चहुं ओर कण-कण में प्रभु के सिवा कोई दिखता ही नहीं। कोई उसका अनिष्ट भी करेगा तो उसे यही लगेगा कि प्रभु ही अत्यन्त कृपा करके उसे चेतावनी देने, सीख देने या पापों का क्षय कराने आए हैं। इसलिए उसके मन में किसी के लिए द्वेष नहीं उपजता।

मैत्रः करुणः:- जिसे किसी से द्वेष नहीं उसका व्यवहार दूसरों के साथ या तो मित्रता का होगा या करुणा का। जो उसे सज्जन लगेंगे उनके साथ मित्र भाव होगा ही पर जो उसे निम्न संस्कार वाले, पापकर्मी नजर आएंगे उनसे उसे घृणा नहीं होगी बल्कि उनके प्रति करुणा का भाव होगा। वह सोचेगा

बेचारे अज्ञान के वश ऐसा व्यवहार कर रहे हैं। वह सामर्थ्य भर उनकी सहायता ही करना चाहेगा, उन्हें सन्मार्ग दिखाने का प्रयत्न ही करेगा।

निर्मम: निरहंकार: :- भक्ति की तो साधना आरम्भ ही होती है 'मैं' के स्थान पर 'तू' को स्थापित करने से। मैं नहीं, तू, तू ही तू। मेरा कुछ भी नहीं, तेरा ही तेरा, सब कुछ तेरा, मैं भी तेरा। मेरी मर्जी कुछ भी नहीं, तेरी ही मर्जी। इसी विचार को जब भक्त बढ़ाता जाएगा तो सिद्ध अवस्था में पहुंचकर कहां उसका 'मैं' रहेगा? कहां उसका 'मेरा'?

सम दु:ख सुख :- सिद्ध भक्त पत्थर की मूर्ति नहीं बन जाता कि संवेदनाएं हों ही नहीं। पत्थर की मूर्ति न झूठ बोलती है, न दुराचार करती है, न सुख में उछलती है न दुख में विचलित होती है फिर भी हम उसे महान नहीं कहते क्योंकि वह संवेदना हीन हैं उसे दु:ख सुख का अनुभव ही नहीं होता तो प्रतिक्रिया होगी कहां से? किन्तु सिद्ध भक्त तो अत्यन्त कोमल हृदय का स्वामी होता है। ऐसा भी नहीं कि भगवान उस पर ऐसी कृपा कर देते हैं कि जीवन में दुख आते ही नहीं। महात्माओं के जीवन में भी भीषणतम की दुख की परिस्थितियां आती हैं, वे उनका अनुभव भी करते हैं किंतु अंतर यही है कि वे हमारी तरह विचलित नहीं होते क्योंकि भगवान की दयालुता पर उनका ऐसा अटूट विश्वास होता है कि वे हर स्थिति को यही समझ कर ग्रहण करते हैं- 'मेरे प्रभु जानते हैं कि मेरे साथ ऐसी ही घटना उचित है इसी में मेरा कल्याण है। अनुकूलता को वे भगवान की दया समझते हैं फिर कहां सुख का अभिमान! कहां दुख के लिए शिकवे शिकायत!

क्षमी :- भक्त को किसी से द्वेष नहीं होता। अभिमान की फुंसी उसके शरीर पर होती नहीं कि छूने पर दर्द हो। फिर यदि किसी के द्वारा उनका अनिष्ट हो ही जाए तो उसकी भावना अनिष्टकर्ता के प्रति क्षमा के सिवा और कुछ हो नहीं सकती। जब वह साधक अवस्था में रहता है तब तो उसे बार-बार विचार करना पड़ता है- इसमें अमुक का कोई देाष नहीं, यह तो मेरे प्रभु की ही मर्जी है, इसलिए मुझे उसे क्षमा कर देना चाहिए। जब तक यह विचार है तब तक क्षमा के पीछे साधक का प्रयत्न है किन्तु सिद्धावस्था में तो उसकी भावनाएं इतनी दृढ़ हो चुकी होती हैं कि उसके मन में ये विचार आते ही नहीं। क्षमा के सिवा और वह कुछ कर ही नहीं सकता। क्षमाशीलता

उसका सहज स्वभाव हो जाता है।

भगवान ने जो लक्षण बताए हैं यह तो भक्ति की उच्चतम अवस्था है। अभी तो हम इसके नजदीक कहीं भी नहीं लेकिन आदर्श सम्मुख रख प्रयत्न करें तो कल्याण अवश्य होगा।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१४।।

जो निरंतर संतुष्ट है, योगी है, मन बुद्धि को वश में किए हुए है, दृढ़ निश्चयी है, मुझमें अर्पित मन बुद्धि वाला है वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

इस श्लोक में भगवान अपने प्रिय भक्त के पांच और लक्षण बता रहे हैं।

सततं संतुष्टः :- सिद्ध भक्त का संतोष सतत् होता है। साधारण व्यक्ति की स्थिति तो ऐसी होती है कि उसे कभी संतोष होती ही नहीं। यदि उसको सुन्दर मकान की तीव्र अभिलाषा है और वह उसे मिल गय तो वह उसके रख रखाव में होने वाली मेहनत का रोना रोने लगेगा। किन्तु जो साधक हैं, भक्ति मार्ग पर चलने का प्रयत्न करने वाले हैं वे बार-बार मन को समझते हैं- नहीं, मेरे जीवन रूपी रथ के सारथी तो भगवान ही हैं। वे जानते हैं कि मेरे लिए क्या उचित है। उन्होंने मुझे जितना दिया है उचित समझ कर ही दिया है। इसमें असंतोष करना तो उनकी सर्वज्ञता और दयालुता को चुनौती देना है। मुझे तो जो मिला है वही ठीक है। इस प्रकार बार-बार मन को समझाने से प्रभु भक्ति भी दृढ़ होती है और संतोष भी आता है। असंतोष बीच-बीच में सिर उठाता है किन्तु फिर शांत हो जाता है। इस प्रकार निरन्तर विचार कर जो सिद्ध हो गया है उसकी संतुष्टि तो सतत् हो जाती है। असंतोष की भावना का अंकुर भी नहीं फूट पाता।

योगी :- भक्त को भगवान योगी भी बताते हैं। उसे भले ही प्राणायाम नहीं आता हो, भले ही वह आसन पर बैठ कर ध्यान नहीं लगाता हो, फिर

भी वह योगी है क्योंकि वह प्रभु से निरन्तर युक्त रहता है। जिसकी श्वासों में और हृदय की धड़कनों में श्याम सुन्दर ही बसते हों उसे भला कोई विशेष क्रिया करने की आवश्यकता कहां?

यतात्मा :- योग संबंधी कोई विशेष क्रिया या साधना न करने का अर्थ यह नहीं कि भक्त का मन अनियंत्रित होता है। ज्ञानी तो अपने पुरुषार्थ द्वारा मन बद्धि को नियंत्रित करना चाहता है न इसलिए बार-बार मन बुद्धि भागते हैं, बार-बार वह प्रयत्न कर कर उन्हें वश में करता है लेकिन भक्त के मन बुद्धि तो कन्हैया को छोड़ कर और कहीं रम ही नहीं पाते तो अनियंत्रित होंगे कैसे। उसने तो मन बुद्धि की चाभी मन मोहन को ही सौंप रखी है जो सारे जगत को इतनी कुशलता के साथ नियंत्रित करता है उसकी नियंत्रण क्षमता की बराबरी भला किसी साधक का अपना पुरुषार्थ कर सकता है!

दृढ़ निश्चयः :- हम साधारण संसारी तो अनेकों वस्तुओं व्यक्तियों के आकर्षण में फंसे होते हैं। एक क्षण हमने 'अ' को पाने के लिए जी जान लगाने का निश्चय किया तो दूसरे ही क्षण जब किसी ने 'ब' के बारे बताया तो हमें लगने लगा- 'अ' को पाकर क्या होगा। पाना है तो 'ब' को पाएं। शान तो उसी में है। परमार्थ के काम में भी कभी तो कुआं खुदवाने का मन करेगा कभी मंदिर बनवाने का, कभी लगेगा कि धर्मशाला बनवा कर समाज की मैं जैसी सेवा कर पाऊंगा वैसी किसी दूसरे माध्यम से नहीं। इसी से मेरा नाम होगा। कुंआ, मंदिर, धर्मशाला, मैं, मेरा नाम, इन सबके बीच उसकी प्रतिबद्धता भटकती रहती है किन्तु भक्त को तो भगवान को छोड़ कर दूसरा कुछ प्राप्तव्य ही नहीं। कुंआ खुदवाया तो प्रभु की सेवा, मंदिर बनवाया तो भी प्रभु की सेवा। उसकी दृष्टि उस लौकिक या परमार्थिक क्रिया पर नहीं होती, वह तो कन्हैया लाल पर ही होती है। उससे हटती ही नहीं अतः उसका निश्चय इधर-उधर भटकता नहीं। एक लक्ष्य से वह किसी भी स्थिति में लेशमात्र भी टस से मस नहीं होता।

मय्यर्पित मनो बुद्धिः :- मन बुद्धि को भगवान को अर्पित करना ही सच्ची शरणागति है। हम समझें कि हमने तो प्रभु की शरण ले ली। 'हे भगवान मैं तुम्हारी शरण में हूं, मुझसे अब और कष्ट सहा नहीं जाता। नाथ! मेरे दुःख दूर करो।' भगवान कहते हैं कि ऐसा करने वाला मेरा आर्त भक्त

है। कुछ कहते हैं- 'हे भगवान! मुझ पर कृपा करो। मैं संसार में यश पाना चाहता हूं। हे लक्ष्मी पति मुझे धन दो। तुम्हारे सिवा कौन है मेरी सुननेवाला।' भगवान कहते हैं कि वह मेरा अर्थार्थी भक्त है। कुछ कहें- 'हे भगवान, तेरी महिमा न्यारी है। मुझे ऐसी क्षमता दो कि मै तुम्हें जान पाऊं।' भगवान कहते हैं कि वह मेरा जिज्ञासु भक्त है। भक्त तो तीनों है पर प्रिय भक्त नहीं है। भगवान ने इनको अपना प्रिय इसलिए नहीं कहा क्योंकि वे स्वयं भी भगवान से प्रेम नहीं करते। उन्हें अपना स्वामी, दाता या मालिक ही मानते हैं।

अब देखें प्रेमी भक्त की स्थिति-' हे भगवान। मैं पूर्ण रूप से तुम्हारी शरण में हूं। तुम मुझे अपनी गोद में ले लो। मैं अज्ञानी हूं, तुम मुझे साधुओं का संग दो ताकि मैं तुम्हारी महिमा जान पाऊं। तुम मुझे वृंदावन का वास दो ताकि मेरे नेत्र नित्य तुम्हारी श्री मूर्ति का दर्शन करे, मेरे श्रवण तुम्हारा ही नाम सुनें, मेरी जिह्वा पर तुम्हारा ही नाम हो।

अच्छी बात है यह कि हर माध्यम से प्रभु के ही समीप रहने की लालसा है। किन्तु मैं पूर्णत: तुम्हारी शरण में हूं और मुझे .... दो। यह शरणागति पूर्ण कहां हुई? जब शरण में चला गया तो मन को यह हक कहां रह गया कि भगवान को बताए उसकी क्या इच्छा है! बुद्धि को अधिकार कहां कि वह कहे 'मैं तुम्हें जानना चाहती हूं।' शरण का अर्थ अपने को नि:शेष कर देना है। प्रभु की प्राप्ति तक के लिए कुछ करने न करने का भी संकल्प नहीं उठता सच्चे शरणागत के मन में। 'प्रभु तुम्हारी जो इच्छा है उसी में मैं सबसे अधिक खुश हूं' के भाव के साथ जो निरन्तर प्रभु का स्मरण करता है वही प्रभु का प्रिय भक्त है। मन बुद्धि का पूर्ण समर्पण मांगते हैं वे।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य: ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो य: स च मे प्रिय ।।१५।।

जिससे किसी भी प्राणी को उद्वेग नहीं होता, जिसको स्वयं भी किसी प्राणी से उद्वेग नहीं होता, जो हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या) भय और उद्वेग से रहित है वह मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोकः :-जिससे किसी प्राणी को उद्वेग नहीं होता। भक्त तो सब में अपने प्राण प्यारे प्रभु को देखता है फिर वह किसी को भी उद्वेग कैसे पहुंचा सकता है। फिर भी जगत में हम पाते हैं कि संतों की महिमा और आदर, उनकी क्रियाओं, यहां तक कि उनकी सौम्यता से भी लोग ईर्ष्यावश उद्विग्न हो जाते हैं और उन पर कीचड़ उछालने का प्रयत्न करते हैं। पर इस उद्विग्नता का कारण संत की कोई क्रिया नहीं बल्कि जनमानस की अपनी ही दोषयुक्त भवनाएं होती हैं। भक्त के मन में उन्हें उद्विग्न करने या सबक सिखाने का कोई भाव नहीं होता।

लोकान्नोद्विजते च यः :- भक्त को भी किसी प्राणी से उद्वेग नहीं होता क्योंकि सभी में तो उसके ठाकुर जी ही विभिन्न रूपों में निवास करते हैं। उसे तो सबकी क्रियाओं में भगवान की ही लीला दिखाई देती है और वह उस लीला दर्शन में इतना मतवाला रहता है कि किसी की भी क्रिया से वह उद्विग्न नहीं होता। दूसरी बात उद्विग्नता की यह है कि हम उद्विग्न तभी होते है जब हमारा कुछ मन चाहा न हो । प्रभु के प्रेम में रचा बसा भक्त तो पूर्ण काम होता है, उसके लिए दूसरी किसी वस्तु का कोई महत्व ही नहीं होता। अतः वह उत्तेजित नहीं होता। लोग भले अपने को उसका शत्रु मान लें, भक्त किसी को अपना शत्रु नहीं मानता।

हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग मुक्त :- हर्ष, ईर्ष्या, भय तथा उद्वेग मन के कुछ विकार है जो रोग द्वेष के कारण उत्पन्न होते हैं। इन सबसे मुक्त बतलाने से भक्त की निर्विकारता स्पष्ट होती है। भक्त की तो सम्पूर्ण चेतना, सम्पूर्ण संवेदनाओं के केन्द्र प्रभु ही होते हैं न, उसको तो अपने में कोई गुण, कोई सामर्थ्य तक नहीं दिखाई देती। वह तो अपने गुणों को भी प्रभु की लीला ही मानता है। संसार की वस्तुओं, उपलब्धियों के प्रति जरा भी महत्व बोध न रहने के कारण वह इन सामान्य विकारों से मुक्त हो जाता है।

भगवान कहते हैं कि ऐसे मुक्त भक्त मुझे प्रिय होते हैं। वैसे तो भगवान को सृष्टि का हर प्राणी प्रिय है लेकिन चर्चा करने लायक प्रेम तो वही होता है जहां 'दोनों तरफ हो आग बराबर लगी हुई।' भक्त जितना उन्मत्त होता है प्रभु के प्रेम में प्रभु भी उतने ही व्याकुल रहते हैं भक्त के प्रेम में।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१६।।

जो आकांछा से रहित, बाहर भीतर से पवित्र, उदासीन, व्यथा से रहित, सभी कर्मो के आरम्भ का परित्यागी है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

अनपेक्षः :- जो अपेक्षा यानी आशा-आकांक्षा से रहित है। भक्त का तो अपने शरीर मन बुद्धि के साथ अपनापन रहता नहीं अतः उनसे संबंधित किसी वस्तु, व्यक्ति, प्राणी उपलब्धि आदि की कोई इच्छा उसे नहीं होती। हमें लगता है कि मन की इच्छा ही तो शरीर से कर्म करवाती है। इच्छा ही न हो तो मनुष्य अकर्मण्य ही बन जाएगा। वास्तव में हम अभी अपनी चित्र-विचित्र इच्छाओं में ऐसे गहरे तक धंसे हुए हैं कि इनसे ऊपर उठा जा सकता है और उठने से क्या होता है यह सोच भी नहीं पाते। कोई भी वस्तु, अपने शरीर निर्वाह के लिए आवश्यक चीज भी इच्छा मात्र से नहीं मिलती। इच्छा तो प्रबल हो जाए तो खटपट ही पैदा करती है। भक्त अकर्मण्य नहीं होता किन्तु इसके कर्मों के पीछे प्रभु का संकल्प कार्य करता है उसका नहीं। सच तो यह है कि जो भगवान को प्रेम करता है उसे भगवान पकड़ लेते हैं। फिर साधना की अवस्था में अज्ञानवश उसके हृदय में कोई इच्छा आ भी जाय तो वे उसे पूरी ही नहीं होने देते चाहे वह सत्कर्म की ही इच्छा क्यों न हो। पहले-पहले तो उसे बुरा लग सकता है कि भगवान ने इतनी भी नहीं सुनी, फिर धीरे-धीरे सीख जाता है कि भगवान से 'इतनी' भी मांग करना समर्पण में बाधक है। जैसे-जैसे भक्ति पथ पर उसकी यात्रा चलती है वह इच्छाओं का त्याग करना सीख जाता है और सिद्ध अवस्था में जब भगवान ही मिल गए तो और किसकी इच्छा!

शुचि :- शुचि का अर्थ केवल तन की ही नहीं बल्कि मन की भी पवित्रता है। भक्त बाहर भीतर से शुद्ध होता है। सबको पवित्र करने वाले अनन्तशायी नारायण जिसके हृदय में विराजते हों, वहां मल का लेश मात्र भी रह ही कैसे सकता है।

दक्ष :- दक्ष का अर्थ चतुर होना है। भक्त के जितने लक्षण भगवान गिना रहें हैं सभी ठीक लगते हैं, पर भक्त चतुर होता है यह बात तो बिलकुल

ही उलटी जान पड़ती है। हमने तो जितने भक्त देखे सब सरल चित्त वाले नजर आए। सभी इतने भोले थे कि लोक व्यवहार तक को पूरा निर्वाह नहीं कर पाते थे और भगवान उन्हें चतुर बता रहे हैं।

असल में चतुराई का हमारा मापदण्ड ही त्रुटिपूर्ण है। हम समझते कि राशन की लम्बी लाइन लगी हो पर हम तिकड़म से पांच मिनट में राशन ले आए तो हम बहुत चतुर हैं। अपने व्यापार में कम से कम धन लगाकर ज्यादा पैसा कमा लिया- बड़े चतुर हो गए। चतुराई तो इसमें है कि हम अपने परमलक्ष्य की ओर कितनी तेजी से बढ़ रहे हैं। इन छोटी मोटी और 'आज है कल नहीं' वाली उपलब्धियों को लक्ष्य मान कर उनकी प्राप्ति के लिए खून पसीना एक कर देना दक्षता का नहीं, अज्ञान का लक्षण है। हमें मानव तन मिला है परमेश्वर की प्राप्ति के लिए। इस लक्ष्य की प्रप्ति के लिए हमें क्या और कैसे करना है, हमें जो अनमोल धन इस मानव जन्म के रूप में मिला है उसका कैसे ज्यादा से ज्यादा लाभ उठा पाएं, यह सोचने विचारने और करने वाला ही दक्ष है।

उदासीनः :- उदासीन शब्द का भावार्थ पक्षपात से रहित होना है। 'सब प्रभु के प्रभु मेरे' का भाव जिसके हृदय में हिलोरें लेता रहता हो वह अपने कुटुम्बी, मित्र, परिजन आदि के पक्ष में विशेष कुछ करने अर्थात् दूसरे का नुकसान करने, झूठी गवाही देने आदि कार्य कर कैसे सकता है? अपने कुटुम्बियों और पुत्रों के लाभ के लिए भी अनुचित कर्म न करने वाले देशप्रेमी भी हुए हैं और भगवत् प्रेमी भी। उनका परिवार भले ही उन्हें अव्यवहारिक बता कर बुरा भला कहे, वे अपने प्रेम के कारण मस्त ही रहते हैं।

गतव्यथः :-व्यथा से रहित होना-कभी-कभी परिवार के व्यक्ति ऐसे पुरुष से बहुत नाराज हो जाते हैं 'देखो तो, बेटा कितनी तकलीफ में है इनको तो कोई असर ही नहीं।' साधारण जन दुःख सुख से होने वाली उछलकूद में इतने डूबे हुए होते हैं कि इस उच्च स्थिति को समझ ही नहीं पाते।

एक महात्मा का युवा पुत्र मर गया। वे बेतहाशा रोने लगे। इतना रोए इतना रोए कि उनकी पत्नी और मां तक को अपने आंसू पोंछ उन्हे सांत्वना देने के लिए प्रभु के विधान और संसार की क्षणभंगुरता के उपदेश देने पड़े। श्मशान से लौटते वक्त एक दूसरे महात्मा ने उन्हें खींचा और पूछा कि बात

क्या है। उन्होंने कहा 'यदि मैं नहीं रोता तो सब रोते और मुझे उन्हें सांत्वना देने के लिए वही सब बातें कहनी होती जो वे अभी कह रहे थे।' तात्पर्य यह है कि संतों भक्तों के मन बुद्धि हम सबसे इतने भिन्न धरातल पर कार्य करते हैं कि हम समझ ही नहीं सकते।

सर्वारम्भ परित्यागी :-सभी कार्यों के आरम्भ का परित्याग करने का अर्थ यह नहीं कि भक्त कोई कार्य शुरु ही नहीं करता। भाव तो यह है कि वह कभी यह मन में नहीं लाता कि अमुक काम मेरे करने से हुआ क्योंकि वह तो दृढ़तापूर्वक जानता है कि सबको नचाने वाला राम गुंसाई ही हैं। भगवान कहते हैं कि ऐसे भक्त भी मुझे प्रिय हैं।

यो न ह्रिष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।१७।।

जो न कभी हर्षित होता है न द्वेष करता है न शोक करता है न आकांक्षा करता है तथा जो शुभ अशुभ सभी कर्मों का त्यागी है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।

हर्ष, द्वेष, शोच और आकांक्षा आदि मन के विकार है जो परस्पर गहर गुंथे हुए हैं। जैसे रात का अंधेरा हो, केाई दीपक जला जाए तो हर्ष होता है। उसे आकर कोई बुझा दे तो उससे द्वेष होता है। दुबारा दीपक कैसे जले इसकी चिंता (शोच) होती है। आकांक्षा होती है कि यह जल्दी से जल्दी जला दिया जाए। किन्तु रात का अंधेरा न हो, दोपहर की धूप खिली हो तो दीपक जले या न जले, शोच या आकांक्षा होती नहीं। कोई जलाए या बुझाए, हर्ष अथवा द्वेष होता नहीं। सर्वाधार प्रभु जिसके लिए सर्वोत्तम एवं परम प्रिय वस्तु हो और हर क्षण उपलब्ध भी हो वैसे सिद्ध भक्त को कहां किसी दूसरी वस्तु का अभाव खलेगा कि उनकी उपलब्धि अनुपलब्धि पर उसे हर्ष, द्वेष, शोच या आकांक्षा होगी।

भक्त का अगला लक्षण बताया गया है शुभ और अशुभ का परित्यागी। इसका अर्थ यह नहीं कि भक्त अच्छे बुरे का विचार किए बिना उच्छृंखल हो कर कर्म करता है। जिसके मन वचन कर्म में प्रभु बसते हों उससे दुष्कर्म

तो हो ही नहीं सकता। शुभाशुभ परित्यागी का अर्थ यह है कि उसके कर्म इतने अहंकार रहित होते हैं कि उनका अच्छा बुरा फल होता ही नहीं। जैसे ही कर्ता अकर्ता बनता है उसके कर्म अकर्म बन जाते हैं। भक्त कुछ न करके भी बहुत कुछ कर गुजरता है और करके भी मानो कुछ नहीं करता। शुभ या अशुभ फल उसे बांध नहीं पाते क्योंकि उसने दोनों का ही त्याग कर रखा है। उसे तो दोनों के साथ ही न अनुराग है न विराग।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ।।१८।।

जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुख में सम है तथा आसक्ति से रहित है।

यहां भगवान ने विभिन्न सामाजिक, शारीरिक, मानसिक, तथा बौद्धिक परिस्थितियों में भक्त की समता का वर्णन किया है। दूसरे अध्याय में भगवान ने बुद्धियोग की चर्चा करते हुए कहा था कि समता ही (बुद्धि) योग है। इसके बाद दसवें अध्याय में कहा था कि जो प्रेमपूर्वक मुझे भजते हैं उन्हें मैं बुद्धियोग देता हूं। यहां वे दिखा रहे हैं कि भक्त सिद्धावस्था में पहुंच कर हर परिस्थिति में सम अर्थात बुद्धियोगी हो जाता है।

भक्त के शत्रु मित्र न होते हों ऐसी बात नहीं। वह स्वयं किसी से वैर नहीं करता पर दूसरे तो अपने स्वभाव के वश उससे वैर करने के लिए स्वतंत्र हैं ही। भक्त शत्रु मित्र रहित नहीं, उनमें सम है। यानी उसके सामने यदि ऐसी परिस्थिति आए कि शत्रु को भी उसकी सहायता की आवश्यकता पड़ जाए तो वह उसकी सेवा भी वैसे ही करेगा जैसे अपने मित्र की।

यह सिद्ध का भक्त का लक्षण है जो साधना के ऊंचे सोपान पर पहुंच कर आता है। वास्तव में साधना की प्रारम्भिक अवस्था में तो भगवान से अनुराग होता है। धीरे-धीरे वह अनुराग इतना बढ़ जाता है कि संसार से वैराग्य होने लगता है। इस अवस्था में प्रभु अलग जान पड़ते हैं और संसार अलग। यह पहली सीढ़ी है। जैसे-जैसे वह भक्ति की ऊंचाई पर चढ़ता है वैसे-वैसे अपने प्रभु के प्रति उसकी भावना का इतना विस्तार होता जाता है कि संसार और

प्रभु एक हो जाते हैं। तब मानव मात्र ही क्यों प्राणिमात्र से वही अनुराग हो जाता है जो प्रभु से है। दूसरा भले ही शत्रु भाव रखे, भक्त के लिए तो- 'निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध?'

मान अपमान, शीत उष्ण और सुख-दुख के साथ भी भक्त की समता इसलिए नहीं होती कि उसकी त्वचा आदि इन्द्रियां संवेगविहीन या निष्क्रिय हो गई हैं। वास्तव में वह तो चेतना के एक दूसरे धरातल पर पहुंचकर आत्म विस्मृत हो जाता है। जब 'मैं' ही नहीं तो मान किसका अपमान किसका? शीत उष्ण और सुख दुख शरीर और मन की समस्त अनुकूलता प्रतिकूलता के प्रतीक हैं। भक्त अनुकूलता को तो भगवान की दया मानता ही है, जब परिस्थितियां प्रतिकूल हो तक भी वह यही सोचता है कि भगवान उस पर विशेष कृपा कर रहे हैं। संसार से वैराग्य हो, कष्ट सहने की क्षमता बढ़े या वृत्तियां अधिक से अधिक प्रभु की ओर लगी ही रहे इसलिए ये प्रतिकूलता भेज रहे हैं। उसे तो हर वक्त यह अनुभव होता है कि भगवान उस पर विशेष नजर रखे हुए हैं। उसकी इच्छानुसार कोई काम न हो तो भी यही समझता है कि भगवान ने उसे ऐसा अपनाया है, उसकी जीवन पद्धति को वे कड़ाई के साथ नियंत्रित कर रहे हैं कि स्वयं जो उसके लिए उचित समझते हैं वही करवाते हैं। इस प्रकार प्रभु के प्रति अटूट श्रद्धा, विश्वास और समर्पण हर स्थिति में उसे सम बनाए रखता है। भक्त निस्संग भी होता है क्योंकि उसका तो नित्य संग प्रभु के साथ रहता है। भक्ति रस के सामने संसार के सब रस फीके लगते हैं अत: किसी भी वस्तु व्यक्ति के साथ उसकी आसक्ति नहीं होती।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर: ।।१९।।

निंदा स्तुति को समान समझने वाला, मननशील, हर स्थिति में संतुष्ट रहने वाला, रहने के स्थान से अनासक्त स्थिर बुद्धि वाला नर मुझे प्रिय है।

तुल्य निंदा स्तुति:-भक्त के लिए निंदा और स्तुति समान है। वह जो भी कर्म करता है, दूसरे भले ही उसे कर्ता मानकर निंदा या प्रशंसा करें,

उसका तो यह दृढ़ विश्वास रहता है कि करने वाला प्रभु ही है। एक भक्त बड़े दानी थे, किन्तु दान देने समय उनकी नजर मानों शर्म से जमीन पर गड़ी रहती थी और वे आंख उठाकर ऊपर देखते भी नहीं थे कि उनसे दान ग्रहण कौन कर रहा है। किसी ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा- 'देने वाला तो कोई और जो रात-दिन देता है, लोग भ्रमवश मुझे दानी मान लेते हैं, अतः लज्जा के मारे नैन नीचे हो जाते हैं।' जिसे स्तुति छू नहीं पाती, उसे निंदा क्या छुएगी।

मौनी :- मौनी का अर्थ न बोलने वाला नहीं लिया जा सकता। तब तो सभी गूंगे भगवान के भक्तों की श्रेणी में आ जाएंगे। मौनी का अर्थ मननशील है। भगवान की छवि के चिंतन में रमा हुआ, उनकी महिमा के मनन में डूबा हुआ व्यक्ति ही मौनी भक्त है।

संतुष्टः येनकेनचित् :- हर परिस्थिति में संतुष्ट रहने वाला। अनेकों आलसी-निकम्मे संसार में मिल जाएंगे जिनके मन में विकास के लिए प्रयत्न करने की कोई इच्छा ही नहीं जागती। पत्नी की जली कटी सुनकर भी खाट पर पड़े रहते हैं। उन्हें किसी भी स्थिति में असंतोष होता ही नहीं। लेकिन उनकी येनकेनचित् संतुष्टि का आधार निकम्मापन और कामचोरी होता है, भक्ति नहीं। यहां तो बात उसकी है जो प्रभु के प्रेम में ऐसा मग्न होता है कि हर परिस्थिति उसे प्यारी ही लगती है, क्योंकि वह उसके प्रभु की योजना है, बड़े प्यार से, विशेषकर उसके लिए बनायी हुई।

अनिकेतः :-अनिकेत का अर्थ निकेत (घर) विहीन नहीं, वरन् घर में लेशमात्र भी आसक्ति न रखने वाला है। गीता में हर स्थान पर क्रिया को नहीं, भाव को महत्व दिया गया है। जैसे शरीर में अहंता, ममता न होने को कारण जनक को विदेह कहा जाता है, इसी प्रकार निकेतन में अहंता, ममता न रखने वाले का अनिकेत कहा गया है।

स्थिरमतिः :- स्थिर बुद्धिवाला। अंत में भगवान ने भक्त को स्थितप्रज्ञ कह ही डाला। हम आरंभ से देख रहे हैं कि भक्त भी हर परिस्थिति में समत्व बनाए रखता है, कभी विचलित नहीं होता। जो सिद्ध भक्त है, वह स्थितप्रज्ञ अपने आप हो जाता है और भगवान को स्थितप्रज्ञ भक्त अत्यंत प्रिय है।

एक बात ध्यान में रहे कि जितने गुण गिनाए गए हैं, ये भक्त के

सहज लक्षण हैं। भक्ति की शर्तें नहीं। हममें ये गुण है तब तो भक्ति के अधिकारी है, वर्ना नहीं, ऐसी बात नहीं। भक्ति का अधिकारी तो हर वैसा व्यक्ति है जिसके सीने में दिल है। उसकी भक्ति जैसे-जैसे बढ़ेगी, ये सारे लक्षण स्वयं ही उतरते चले जाएंगे। अतः भक्त की इतनी सारी विशेषताएं पढ़कर हीन भावना लाने की आवश्यकता नहीं कि मैं तो अक्षम हूं, भगवान मुझे कैसे प्यार करेंगे। भगवान सबको प्यार करते हैं और जो उन्हें प्यार करना आरंभ करता है उसका विशेष ध्यान रखते हैं। यदि हममें त्रुटियां हैं तो हम उन्हें सच्चे मन से स्वीकार करते हुए प्रभु के लिए प्रस्तुत करें- 'हे नाथ, मेरा जीवन तो पापों से भरा पड़ा है, मेरा हृदय तो कलुष से भरा पड़ा है, मेरा चित्त तो अहंकार से भरा है। अपने अनगिनत अवगुणों की ही पूंजी मैंने एकत्र की है अब तक संसार में व्यवहार कर। मेरे पास तो कोई शुभ वस्तु है ही नहीं तुम्हें अर्पण करने की, लेकिन कन्हैया मेरे, तुम तो मिट्टी, कीचड़, गोबर में रह कर भी उस स्थान को पावन बना देने की क्षमता रखते हो। मेरे हृदय में वासनाओं, कामनाओं का मिट्टी कीचड़ भरा है, तुम ही इसमें पधारकर इसे व्रजभूमि जैसा पावन बना सकते हो।' केवल प्रभु के सामने निष्कपट होकर दिल खोलकर देखिए वे अवश्य कृपा करेंगे। शर्त केवल निश्छलता और अनन्यता की है, अन्तर के राग-द्वेष धीरे-धीरे धुलते जायेंगे और जब प्रभु के साथ अन्तरंगता स्थायी हो जाएगी तो इन सबका भान ही छूट जाएगा।

ऐसे व्यक्ति के विषय में भगवान के क्या भाव होते हैं?

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव में प्रियाः ।।२०।।

परन्तु जो श्रद्धा युक्त पुरुष मेरे परायण हो कर इस ऊपर कहे गए धर्म मय अमृत का अच्छी तरह से सेवन करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय है।

उन्नीसवें श्लोक तक भगवान ने अपने सिद्ध भक्तों का वर्णन किया था और इस श्लोक में उन्होंने उन उत्तम साधकों की प्रशंसा की है जो सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है किंतु सिद्ध भक्तों के इन लक्षणों को आदर्श मानकर उनका सेवन करता है अर्थात् उसके अनुसार अपने आप को बनाने

का प्रयत्न करता है। यह भेद दिखाने के लिए यहां 'तु' अर्थात् परंतु शब्द का व्यवहार किया गया है।

सिद्ध भक्त के लिए तो भगवान कह रहे थे कि 'वह मुझे प्रिय है' लेकिन इस श्लोक में कहते है 'साधक भक्त मुझे अतीव प्रिय है।' इसीलिए तो भगवान को करुणावरुणालय और दीनबंधु कहा जाता है। दया और करुणा में अंतर है। दया तो पात्रता देखकर या प्रयोजन समझकर की जाती है लेकिन करुणा अहैतुकी होती है। अपने हृदय में राग द्वेषका कलुष भरा हुआ जब हम अपनी ही नजर में गिरे हुए होते हैं तब भगवान कहते है- 'तुम अपने को अधम मत समझो। तुम तो प्रिय हो मेरे। मैं हाथ फैलाए तुम्हारी ही तो प्रतीक्षा कर रहा था अब तक। आओ, देखो एक बार मेरी ओर, एक कदम तो बढ़ाओ मेरी ओर। डरो मत, घबराओ नहीं, मैं तुम्हें गिरने नहीं दूंगा। बस एक बार तुम सच्चे मन से कह दो 'प्रभु मैं तुम्हारा हूं।'

सिद्ध अर्थात् ज्ञानी भक्त में तो उपरोक्त लक्षण सहज रूप से भक्ति के फल के रूप में ही प्रकट होते हैं पर साधक उनको अपना लक्ष्य मानता है। इन गुणों को धाारण करने का प्रयत्न करता है इसमें उसे सहारा देती है प्रभु के प्रति श्रद्धा और अनन्य प्रेम। किन्तु जब तक दृढ़ता न आ जाए वह लड़खड़ाता है। कभी तो वह अपने राग द्वेष, अहंकार आदि पर नियंत्रण करने में सफल हो जाता है कभी नहीं। कभी वह अत्यंत उत्साहित हो जाता है, कभी बहुत ही निराश। कभी तो वह सज्जनों की संगति में रहता है कभी दुर्जनों की भी संगति मिलती है। कभी भगवान का भजन अच्छी तरह होता है कभी विषय भोग अपनी तरफ खींच लेते हैं। ऐसे लड़खड़ाते बालक को विशेष, प्यार, विशेष देख रेख की जरूरत होती है न, इसीलिए भगवान कहते हैं- 'साधक भक्त मुझे अति प्रिय है।'

साधक को क्यों भगवान अति प्रिय कह रहे हैं इसका स्पष्टीकरण रामचरित मानस में मिलता है। भगवान कहते हैं- 'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी' अर्थात् ज्ञानी भक्त मेरे प्रौढ़ पुत्र के समान है। किन्तु साधक के लिए उनका कहना है- 'बालक सुत सम दास अमानी' अर्थात् साधक भक्त उनके छोटे अबोध शिशु के समान है। मां की ममता सभी पुत्रों पर बराबर होते हुए भी शिशु को वह अधिक प्यार करती ही है क्योंकि उसे विशेष प्यार और देख

रेख की आवश्यकता है। भगवान का यह विशेष दुलार पाना है तो उनके द्वारा कहे गए उपरोक्त पांच श्लोकों का भली भांति चिन्तन मनन कर उन गुणों को धारण करने का प्रयत्न करें। यह बात सही है कि ये तो लक्षण है शर्त नहीं। हममें लाख अवगुण भरे हो, यदि प्रभु के प्रति सच्चा प्रेम और अनन्य समर्पण हो तो सब अवगुण दूर होकर उपरोक्त गुणों को स्थान दे देंगे। पर सच्चा प्रेम और अनन्य समर्पण भी तभी आएगा जब हम इन गुणों को अपनाने का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे। हमारे एक कदम बढ़ाते ही वो दस कदम बढ़ाएंगे किंतु पहला कदम हमारा तो होना ही होगा।

इनमें बहुत से लक्षण तो समान अर्थ वाले हैं जैसे अद्वेष्टा सर्व भूतानां, यस्मान्नो द्विजते लोकः, समः शत्रौ च मित्रे च। किसी के द्वेष न होना, किसी से उद्विग्न न होना और शत्रु मित्र से सम रहना सबमें भाव यही है कि सभी मेरे प्रभु के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं।

इसी प्रकार सम दुख सुख, सततं संतुष्ट, हर्षामर्ष भयोद्वेगैः मुक्त, गतव्यथः, न शोचति, न कांक्षति, तुल्य निंदा स्तुतिर्मौनी, येन केनचित् संतुष्टः, शीतोष्ण सुख दुखेषु समः आदि सभी लक्षणो में भाव यही है कि मेरे प्रभु ही मेरे नियन्ता हैं। वे ही जानते है कि मेरे लिए क्या उचित है। उन्होंने मुझे अपनाया है और अपनी मर्जी से चला रहे हैं। उनकी मर्जी में ही मेरा कल्याण है। उनकी इच्छा के अनुसार आने वाली ही परिस्थिति का स्वागत है। बार-बार इन्हें तो व्यवहार की सूक्ष्मता का अंतर स्पष्ट करने के लिए कहा गया है। हम इनमें से एक गुण को भी धारण करने का भी प्रयत्न करे तो बाकी सारे गुण अपने आप आ जाएंगे। प्रभु की अतिशय दयालुता और प्रेम पर श्रद्धा रखते हुए केवल उन्हें ही पाने की तीव्र लालसा मन में बढ़ा ले तो सफलता अवश्य मिलेगी। जितना स्वयं सके उतना स्वयं करें बाकी पूर्ण विश्वास के साथ प्रभु पर सौंप दे।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद में भक्ति योग नामक
द्वादश अध्याय पूर्ण होता है।
ॐ तत् सत्

उपसंहार

स्थित प्रज्ञ एवं भक्त का तुलनात्मक विवेचन

श्री भगवान ने द्वितीय अध्याय में बुद्धियोग की चर्चा की थी। बुद्धियोग का अर्थ है बुद्धिमानी पूर्वक कर्म करना यानी किस भावना के साथ कर्म करने से कर्म और कर्मफल उन्हें बांधेंगे नहीं वरन् मुक्ति के साधन बन जाएंगे यह समझ बूझ कर उसी के अनुसार कार्य करना। बुद्धियोग वास्तव में कर्म योग ही है। कर्म तो सभी हैं पर जिस कर्म के साथ ज्ञान का पुट मिला होने के कारण फलासक्ति न हो वह कर्म ब्रह्म से युक्त कराने के साधन बन जाता है इसलिए उसे कर्म योग कहते हैं।

कर्मयोगी को यह ज्ञान होता है कि कर्म का आधार वासना है। वासना पहले तो बुद्धि में उद्वेग उत्पन्न करती है। यह उद्वेग मन में कामना उत्पन्न करता है। कामना इन्द्रियों को कर्म करने को प्रेरित करती है। कर्म का फल फिर नए संकल्प, नई वासनाओं को जन्म देता है।

वासना–उद्वेग–कामना–कर्म–वासना का चक्र पुनः पुनः चलता रहता है। हमारा सत्य स्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा है, शरीर मन बुद्धि की उपाधियां नहीं। किन्तु वासना के इस चक्र में उलझे होने के कारण हम आत्मा को नहीं पहचान पाते। अतः विचार द्वारा पुनः पुनः हम आत्मवान बनने का प्रयत्न करें तो बीच में आड़े आती इस वासना को निर्मूल करने का संकल्प दृढ़ होगा। तब हम कर्म से कामना को निकाल फेंकने को कटिबद्ध होंगे। ये निष्काम कर्म ही हमें कर्म योगी बनाएंगे। तब विषय भोग और उनके पीछे भागने का इंद्रियों का सहज स्वभाव हमें विचलित नहीं कर पाएंगे।

शरीर मन बुद्धि से तादात्म्य हटाने के प्रयत्न से शरीर के सुख दुख, मन के राग द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय तथा बुद्धि के मान अपमान हमें उद्विग्न करना कम कर देंगे। इस प्रकार धीरे–धीरे समत्व की प्राप्ति होगी। ऐसे सिद्ध पुरुष को भगवान स्थित प्रज्ञ कहते हैं क्योंकि हर परस्थिति में उसकी

प्रज्ञा स्थिर अर्थात् बुद्धि सम रहती है।

दूसरे अध्याय के अंत में भगवान ने स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण बताए और यहां भक्त के जो लक्षण बता रहे हैं उनका जरा तुलनात्मक विवेचन करें-

स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते हुए भगवान ने कहा था **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत स्पृहः,** यहां भक्त के लक्षण बताते हुए भी वे **सम दुःख सुखः** का व्यवहार करते हैं।

स्थित प्रज्ञ को उन्होंने **वीत राग भय क्रोधः** बताया था, भक्त को भी वे **हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः** बताते हैं।

स्थित प्रज्ञ के लिए उन्होंने कहा था **यः सर्वत्रानभिस्नेहः तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्** और भक्त को भी वे **शुभाशुभ परित्यागी** बता रहे हैं।

स्थित प्रज्ञ और भक्त, दोनों के लक्षणों में वे **निर्ममो निरहंकारः** शब्दों का व्यवहार करते हैं।

इस प्रकार सिद्धावस्था में पहुंच कर तो दोनों की स्थिति एक ही हो जाती है पर उनकी साधना प्रणाली भिन्न-भिन्न है।

स्थित प्रज्ञ होने के लिए साधक विषय के ध्यान को पतन की राह मान कर इन्द्रियों को संयमित करता है ताकि वे भोगों में निर्बाध विचरण न करें। इसी प्रकार कामनाओं को भी अपन प्रबल शत्रु मान कर उन्हें निर्मूल करने का प्रयास करता है। विवेक विचार द्वारा मन को कामनओं में उलझने से बचाता है। तीसरी बात अपने शरीर मन बुद्धि से तादात्म्य हटा कर अपने नित्य शुद्ध आत्म स्वरूप में अपने को स्थित करने का प्रयत्न करना है। इस प्रकार शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक साधनाओं द्वारा वह उपरोक्त गुण प्राप्त करता है।

किन्तु भक्त ऐसा नहीं करता। वह तो सीधे-सीधे प्रभु को समर्पित हो जाता है। उन्हें अपना माता-पिता, गुरु, सखा, सुहृद, नियन्ता, परम लक्ष्य और पुत्र तक भी मान लेता है। उसकी साधना ईश्वर चिन्तन में रमने और 'प्रभु मेरे हैं मैं प्रभु का हूं' विचार को अधिकाधिक बढ़ाने की होती है। वह प्रभु के साथ तादात्म्य करने का प्रयत्न नहीं करता उनमें डूब जाना चाहता है। मेरा बल, मेरी कामना, मेरे संकल्प जैसी बातों को ही वह नहीं सोचता

और अभी हमने देखा कि इसी समर्पण का आश्रय लेकर वह भी स्थित प्रज्ञ के सारे गुण प्राप्त कर लेता है।

वैसे तो कर्म योग शारीरिक रूप से पुष्ट लोगों के लिए, भक्ति योग मानसिक अर्थात् भावनात्मक रूप से पुष्ट लोगों के लिए और ज्ञान योग बौद्धिक रूप से पुष्ट मानव के लिए उपयुक्त बताए गए हैं पर हम सबके पास न्यूनाधिक रूप में शरीर मन बुद्धि तीनों की ही पुष्टता होती है। अपने जीवन को देखें तो कभी हम सब कुछ भूल भाल कर किसी एक काम के पीछे लग जाते हैं, कभी भावना में बह कर सारे कर्म और आदर्शों का त्याग कर देते हैं और कभी आदर्श के पीछे अपना सब कुछ दांव पर लगाने को तैयार हो जाते हैं।

अत: किसी भी साधना को अपने लिए बिल्कुल अनुपयुक्त मान कर उससे आंखें न मींचें। अपनी विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न साधनाओं का आश्रय लें। लक्ष्य तो एक ही है अत: हर साधना हमारी सहायता करेगी और हम अपने मानव जीवन को सफल बना पाएंगे।

ॐ तत् सत्